

न हि ब्रानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।



माणिकचन्द-दिग्म्बर-जैन-
ग्रन्थमाला ।

१५

युक्त्यनुशासनम् ।

श्रीमत्समन्तभद्राचार्यप्रणीतं
युक्त्यनुशासनम् ।

श्रीविद्यानन्दाचार्यविरचितया टीकया समन्वितं
साहित्यशास्त्रि-पण्डित-इन्द्रलालैः काव्यर्थार्थ-पण्डित-
श्रीलालैश्च सम्पादितं संशोधितं च ।

प्रकाशयित्री—
माणिकचन्द्र-दिगम्बर-जैन-ग्रन्थमाला-समितिः

द्वैशास्त्र, श्रीद्वार निं० संबत् २४४६ ।

कालक—

नाथुराम प्रेपी मंत्री,
माणिकचंद्र दि० जैनश्चमालासमिति,
हीराबाम गिरगांव बम्बई ।



मुद्रक—

श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ,
जैनसिद्धांतप्रकाशक (पवित्र) प्रेस,
नं० ८ महेंद्रबोस लैन,
श्यामबाजार कলकत्ता ।

धन्यवाद ।

इस अलभ्य ग्रन्थके उद्धार—कार्यमें नजीबाबाद जि० विज-
नैरके श्रीमान् साहु गणेशीलालजी आनन्देरी मजिस्ट्रेटकी वर्मपत्री
(वीने १००) सौ रुपयाकी सहायता देनेकी उदारता दिखलाई
है, इसके लिए श्रीमतीजीको अनेक धन्यवाद । अन्य धर्मात्मा-
ओंको आपके इस शास्त्रप्रेमका अनुकरण करना चाहिए ।

श्रीमतीजीकी ओरसे उक्त सौ रुपयोंके ग्रन्थ असमर्थ विद्वा-
नोंको बिना मूल्य वितरण किये जावेंगे ।

निवेदक—पंत्री

युक्त्यनुशासनस्य श्लोकानां

अकाराद्यनुक्रमणिका ।

अ

प० श्लो०

अतत्स्वभावे	५८ । २७
अनर्थिका साधन	४५ । १८
अनात्मनानात्म	१५० । ५८
अनुकृतुर्लयं	१०० । ४२
अभावमात्रं	५२ । १५
अभेदभेदात्मक	२१ । २७
अमेयमश्चिष्ट	१३७ । ५५
अर्थः प्रकरणं लिङः	१०२ । +
अवाच्यमित्यत्र	६१ । २९
अशासदाऽज्जांसि	४८ । २१
अहेतुकत्वं प्रथितः	३३ । ९

आ

आत्मान्तरा १३६ । ५४

+एतचिन्हांकिता उक्तं चेतश्लोकाः ।

इ

इति स्तुत्यः स्तुत्यै १७८ । ६५

उ

उपेक्षा फलमाद्यस्य ७ । +

उपेयतत्त्वा ६० । २८

ए

एकान्तधर्मा १३१ । ५२

क

कथंचित्ते सदेवेष्ट ८९ । +

कामं द्विषत्रयुपयति १७४ । ६३

कार्यद्रव्यमनादि १३८ । +

कालः कलिर्बा १६ । ५

कालान्तरस्थे ६८ । ३४

किंचिन्निर्णित ११६ । +

कीर्त्या महत्या १ । १

कृतप्रणाशाकृत ४० । १४

त		न सच्च नासच्च	६४ । ३२
तत्त्वं विशुद्धं	४६ । १९	नानात्मता	१२६ । ५०
तत्रापूर्वार्थ	८४ । +	नानासदेका	१४५ । ५६
तथा न तत्कारण	३८ । १२	निशायितस्तैः	१५१ । ५९
तथापि वैयात्य	१४ । ३	नैवास्ति हेतुः	३८ । १३
तथा प्रतिज्ञा	१०४ । ४५		प
तदेतत्तु समायाते	१७३ । +	प्रतिक्षणं भैंगिषु	४२ । १६
तपांसि यातनाः	७५ । +	प्रत्यक्षं कल्पनापोदं	५ । +
त्यक्तात्यक्तात्म	७९ । +	प्रत्यक्षबुद्धिः	४३ । २२
त्वं शुद्धिशक्त्यो	१४ । ४	प्रत्यक्षनिर्देश	६६ । ३३
द		प्रमाणनयनिर्णीति	१ । ×
दथादमत्याग	१७ । ६	प्रसुच्यते च	१३४ । ५३
दृष्टागमा	१२२ । ४९	प्रश्निरक्ते	८६ । ३८
द्वष्टे दिशिष्टे	७८ । ३६		भ
द्वे सत्ये समुपाश्रित्य	४४ । +	भवत्यभावेऽपि	१५१ । ६०
न		भावा येन निरूप्यते १७३ । +	
न द्रव्यपर्याय	११२ । ४८	भावेषु नित्येषु	२८ । ८
न बंधमोक्षौ	४१ । १५	भावैकान्ते पदार्थानां	८६ । +
न मांसभक्षणे	८३ । +		प
न रागान्नः स्तोत्रं १७७ । ६४		मद्यांगवद्भू	७२ । ३५
न शास्त्रशिष्या	४३ । १७	ममकाराहंकारौ	१३२ । +

मिथोनपेक्षा:	१२८। ५१
मूकात्मसंवेद	४७। २०
य	
यदेवकारो	९९। ४२
याथात्म्यमुल्लंघ्य	१३। २
येषामवक्तव्य	३५। १०
योलोकाभ्जवलय	१७४। +
र	
रागाद्यविद्या	५०। २३
व	
वस्त्रेवावस्तुतां	१०१। +
व्यतीत्य सामान्य	५४। २६
व्याहृतिहीना	१४८। ५७
विद्या प्रसूत्यै	५०। २४
विधिनिर्धो	१०५। ४६
विरोधि चा	१०३। ४४
विशेषसामान्य	१५३। ६१

श
शीर्षोपहारादि
स
सत्यानृतं वाप्य
सर्वान्तवद्
सर्वात्मकं तदेकं स्थात्
सर्वथा सदपायानां
सर्वथा सदुपायानां
सहक्रमाद्वा
सामान्यनिष्ठा
साहंकारे मनसि न
स्तोत्रे युक्त्यनु
स्थेयाज्ञातजयघ्वजा
स्यादित्यपि
स्वच्छन्दवृत्तेः
ह
हेतुने दृष्टोऽन्न

—○—><—○—

श्रीविद्यानन्द स्वामी ।

जैनधर्मके दार्शनिक और नैयायिक विद्वानोंमें ‘विद्यानन्दि’ या ‘विद्यानन्द स्वामी’ बहुत प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं । ये ‘पात्र-केसरी’ नामसे भी प्रसिद्ध हैं ।

इनके विषयमें एक कथा प्रसिद्ध है जिसके अनुसार वे मगधराज्यके अहिन्च्छत्र नामक नगरके निवासी थे और अपनी पूर्वावस्थामें वेदानुयायी ब्राह्मण थे । स्वामी समन्तभद्रके ‘देवागमस्तोत्र’ या ‘आसमीमांसा’ नामक ग्रन्थका पाठ करनेसे उन्हें जैनदर्शन पर श्रद्धा हो गई थी और तब वे जैनधर्ममें दीक्षित हो गये थे । माकूम नहीं, इस कथामें सत्यांश कितना है । पर इतना अवश्य है कि विद्यानन्दस्वामीके जीवनका अधिकांश दक्षिण और कर्नाटकमें ही व्यतीत हुआ होगा । उनके सहयोगी अकलंक, प्रभाचन्द्र, माणिक्यनन्दि और प्रतिद्वन्द्वी कुमारिल, मण्डनमिश्र आदि सब कर्नाटकमेंही हुए हैं । हुमचा जिला शिमोगाके शिलालेखमें विद्यानन्द स्वामीका जिन अनेक राजाओंकी सभाओंमें जाकर विजय प्राप्त करना लिखा है वे सब दक्षिण और कर्नाटकके ही हैं । इससे उनका दाक्षिणात्य या कर्नाटकी होना ही अधिक संभव जान पड़ता है ।

कहा जाता है कि वे नन्दिसंघके आचार्य थे । परन्तु हमारी

समझमें उस समय तक नन्दि, सेन, देव और सिंह इन चार संघोंका अस्तित्व ही न था । मंगराज नामक एक कर्नाटक-कविका शक संवत् १३५५ (वि० सं० १४९०) का एक विश्वरूप शिला लेख मिला है जिसमें स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है कि अगवान् अकलङ्कभृके स्वर्ग जानेके बाद उनकी परम्पराके मु-नियोंमें ये चार संघमेद हुए । और यह ठीक भी मालूम होता है । क्योंकि अकलंकदेवके समय तकके किनी भी ग्रन्थकर्ता के अन्थमें इन संघोंका उल्लेख नहीं पाया जाता । जान पड़ता है, इनके 'नन्द्यन्त, नामसे ही ये नन्दिसंघके आचार्य समझ लिये गये हैं ।

१ विद्यानन्द स्वामीने अपने 'अष्टसहस्री, ग्रन्थमें भर्तृहरिके 'वाक्यपदीय' ग्रन्थका निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है:--

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद्वैते ।

अनुविद्धभिवाभाति सर्वे शब्दे प्रतिष्ठितम् ॥

चीन देशका सुप्रसिद्ध यात्री हुएनसंग वि० सं० ६८६ में भारत अमण करने आया था और ७०२ तक इस देशमें रहा था । उसने अपनी यात्रा-पुस्तकमें लिखा है कि इससमय व्याकरण शास्त्रमें भर्तृहरि बहुत प्रसिद्ध विद्वान् है । इससे मालूम होता है कि भर्तृहरि वि० सं० ७०३ के लाभग जीवित थे और विद्यानन्द उनसे पीछे हुए हैं ।

२ प्रसिद्ध दर्शनिक कुमारिलभृने अपने श्लोकबार्तिक नामक ग्रन्थमें अलंकदेवकी अष्टशतीके वाक्योंको लेकर उनपर

आक्षेप किया है और उनका निवारण अकलंकदेवके शिष्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें जगह जगह किया है। श्रीयुक्त पं० बाबू काशीनाथजी पाठक च० ४० ने इस विषयमें एक बहाही महत्त्व पूर्ण लेख प्रकाशित किया है और उक्त विद्वानोंके मन्थोंकी भीतरी जांच कर बतलाया है कि कुमारिलभट्ट और अकलंकदेव एक ही समयमें हुए हैं, और कुमारिल अकलंकदेवके कुछ बादतक जीवित रहे हैं। कुमारिलभट्टका समय वि० सं० ७५७ से ११७ तक निश्चित है। अतएव विद्यानन्द स्वामी भी लगभग इसीसमयमें अथवा इससे कुछ पीछे हुए होंगे।

३ चिद्रोलास कृत 'शंकरविजय' से मालूम होता है कि मण्डनमिश्रका दूसरा नाम सुरेश्वर था और सुरेश्वर आद्य शंकराचार्यका शिष्य था। आद्य शंकराचार्यका समय वि० सं० ८०७ से ८४५ तक निश्चित किया गया है, अतएव मण्डनमिश्रका भी लगभग यही समय मानना चाहिए। इस मण्डनमिश्रके 'वृहदारण्यकबार्तिक' के कई श्लोकोंको विद्यानन्द स्वामीने अष्टसहस्रीमें तद्धृत कर उनका लेण्डन किया है। इससे विद्यानन्दका समय भी वि० सं० ८४५ के लगभग मानना चाहिए।

४ परन्तु उनका समय वि० सं० ८९५ से और पीछे नहीं माना जा सकता। क्योंकि इसी समय अर्थात् शक संवत् ७६० (वि० सं० ८९५) के लगभग भगवाज्जिनसेनने आदि पुण्यकी रचना की है और उसके प्रथम पर्वमें उन्होंने पात्रके-सरी या विद्यानन्द स्वामीका स्मरण किया है:—

भट्टाकलंक-श्रीपाल-पात्रकेसरिणां गुणाः ।

विदुषां हृदयारुढा हारायन्तेऽतिनिर्मलाः ॥ ४९ ॥

इससे मालूम होता है कि वि० सं० ८९५ के लगभग विद्यानन्द स्वामीकी अच्छी स्थाति हो चुकी थी ।

भट्टाकलंक, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, माणिक्यनन्दि, आदि सब समकालीन विद्वान् थे । इनमें सबसे पहले अकलङ्कदेव हैं । क्योंकि इनके किमी भी ग्रन्थमें विद्यानन्द आदिका उल्लेख नहीं है । किन्तु प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रदेवमें लिखा है कि मैंने अकलङ्कदेवके चरणोंसे धोध प्राप्त किया, साथ ही उन्होंने विद्यानन्दका भी उल्लेख किया है । इससे अकलंक और विद्यानन्दको उनका पूर्ववर्ती मानना चाहिए । इसके सिवाय माणिक्यनन्दि भी उनसे पूर्ववर्ती है । क्योंकि उनका प्रमेयकमलमार्तण्ड माणिक्यनन्दिके पीक्षामुख नामक ग्रन्थका ही भाष्य है । परन्तु माणिक्यनन्दी, अकलंक और विद्यानन्दका स्मरण करते हैं, अतएव वे उनसे पछिके हैं । इस तरह हम इन आचार्योंका कम इस तरह मानते हैं - १ अकलंक, २ विद्यानन्द, ३ माणिक्यनन्दि और ४ प्रभाचन्द्र । ये सभी अपने समयके महान् तार्किक विद्वान् थे ।

महिलेषण प्रशास्तिसे मालूम होता है कि भट्टाकलंकदेव राष्ट्रकूट (राठोर) राजा साहस्रुद्धकी समामें गये थे । साहस्रुद्धका दूसरा नाम कृष्णराज था । डा० भाण्डारकरने अनेक प्रमाणोंसे इसका राज्यकाल वि० सं० ८१० से ८३२ तक

निश्चित किया है। अतएव भट्टाकलंकदेवका समय भी इसीके लाभग निश्चित होता है और चूंकि प्रभाचन्द्रने उनसे बोध प्राप्त किया था, तथा प्रभाचन्द्र विद्यानन्दका स्मरण करते हैं तथा विद्यानन्द अकलंकदेवके ग्रन्थोंके टीकाकार हैं, अतः विद्यानन्दका अन्तित्व वि० सं० ८३२ से ८६५ के बीचमें माना जाना चाहिए।

विद्यानन्दस्वामी अनेक तर्क ग्रन्थोंके रचयिता हैं। उनमें से अष्टसहस्री (आसमीमांसालड्कार), श्लोकवार्तिकालड्कार (तत्त्वार्थलड्कार), आसपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पात्रकेसरीस्तोत्र और युक्त्यनुशान टीका ये ग्रंथ छप चुके हैं। प्रमाणमीमांसा, प्रमाणनिर्णय, विद्यानन्दमहोदय, बुद्धेशभवन व्याख्यान, और आसपरीक्षालड्कृति नामक ग्रंथ अभीतक अनु-पलब्ध हैं। *

प्रस्तुत ग्रन्थ, स्वामी समन्तभद्रके स्तोत्रग्रन्थकी टीका है। इसकी एक प्रति हमें जैनन्द्रपेसके स्वामी पण्डित कल्लापा भरमापानिटवेकी कृपासे प्राप्त हुई थी जो उन्होंने किसी कनडीप्रतिपरसे एक विद्वानके द्वारा लिखाई थी और दूसरी प्रति स्याद्वादपाठ-शाला काश्चिके सरस्वती भवनसे पण्डित उमरावसिंहजीकी कृपासे प्राप्त हुई थी। इन दोनो प्रतियोंपरसे इसकी प्रेस कापी साहित्य शास्त्री पं० इन्द्रलालजी चांदूवाडने की है और प्रूफ-संशोधन पं० श्रीलालजी काव्यतीर्थने किया है।

* जैन हितैषी भाग १ वंक १ में प्रकाशित हुए विस्तृत लेखका सारांश।

(६)

संशोधनादि कार्यमें यथासंभव सावधानी रक्षी गई है।
फिर भी यदि कुछ अशुद्धियाँ रह गई हों, तो उनको विद्वज्जन
संशोधन पूर्वक पढ़नेकी कृपाकरे।

निवेदक—

नाथूराम प्रेमी ।





श्रीवीतरागाय नमः ।

आचार्यप्रवरश्रीमद्विवानंदिप्रणीतया टीकया विभूषितं

श्रीमत्समन्तभद्राचार्यवर्यप्रणीतं

युक्त्यनुशासनं ।

टीकाकर्तुर्मगलाचरणं ।

प्रपाणनयनिर्णीतिवस्तुतच्चवाधितं ।

जीयात्समन्तभद्रस्य स्तोत्रं युक्त्यनुशासनं ॥

श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिरस्मीमांसायापन्थयोगव्यवच्छेद-
दाद व्यवस्थापितेन भगवता श्रामताहृतान्तपतीर्थकरपरमदेवेन
मां परीक्षय किं चिकीर्षिवो भवन्तः ? इति ते एष्टा इव प्राहुः—

कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानं

त्वां वर्द्धमानं स्तुतिगोचरत्वं ।

निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं

विशीर्णदोषाशयपाशबन्धं ॥ १ ॥

टीका—स्तुतिगोचरत्वं स्तोत्रविषयत्वं निनीषवो नेतुमि-
च्छवो वयं मुमुक्षुवोऽश्यास्मिन् काले परीक्षावसानसमये स्मो
अवापत्त्वां वीरं नान्यत् किंचित्कर्तुकामा इति प्रतिबचनेनाभि-

संबंधः । कुतः स्तुतिगोचरत्वं नेतुमिच्छवो भवन्त इत्याहुः—
ऋद्धपानमिति प्रवृद्धप्रमाणत्वादित्यर्थः, ॠद्धं प्रवृद्धं मानं
प्रमाणं यस्य स एव वर्द्धमान इत्युच्यते ।

किं पुनस्तत्र प्रमाणं प्रवृद्धमिति चेत्, तत्त्वज्ञानमेव,
तत्त्वज्ञानं प्रमाणं स्यादिति वचनात् तस्यैव प्रवृद्धत्वोपपत्तेः
स्थाप्तादनयसंस्कृतत्वात् । सञ्चिकषणदेशपत्त्वारादन्यत्र प्रमाण-
त्वायोगान्विर्विकल्पकदर्शनवत् प्रवृद्धत्वासंभवात् । तत्त्वज्ञानं
पुनः स्वार्थव्यवसायात्मकं तत्त्वज्ञानत्वान्यथानुपपत्तेः । न हव्यव-
सायात्मकं तत्त्वज्ञानं नामाकिंचित्करस्य तत्त्वज्ञानत्वप्रसंगात् ।
नाकिंचित्करं तत्त्वज्ञानं व्यवसायकरस्य तत्त्वज्ञानत्वादिति
चेत्, न स्वयमव्यवसायात्मनो दर्शनस्य व्यवसायकरत्वविरो-
धात् सुगतदर्शनवत् । क्षणक्षयादिर्दशनबुद्धव्यवसायवासना-
प्रबोधसहकारि दर्शनं व्यवसायकारणं नापरमिति चेत्, कुतो
व्यवसायवासनाप्रबोधः ? दर्शनादिति चेत्, तर्हि क्षणक्षयादा-
वपि स्यात्कर्थं च सुगतदर्शनं न स्यात् ? तत्राविद्योदयसत्त्वा-
दिति चेत्, तर्हि अविद्योदयसहायादर्शनात् स च भवतु ज्ञ-
णक्षयादौ, नास्तीति भतं तदा दर्शनमेदप्रसंगः, न हेकमेव
दर्शनं नीलादौ व्यवसायवासनाप्रबोधनिबंधनाविद्योदयसमा-
क्रान्तं क्षणक्षयादावन्यथेति ववतुं युक्तम् । स्यान्मतं, दर्शन-
स्याविद्योदयवैचित्रयादौचित्रयं ततस्तस्यान्यत्वात्तदन्यत्वे दर्श-
नस्य वास्तवत्वाविरोधाद्, वास्तवं हि दर्शनमवास्तवा वाऽवि-
द्या, तदुभयमेदाभ्य दर्शनमेद इति । तदपि स्वसिद्धान्तमात्रं,

तस्या विकल्पवासनाहेतुत्वविरोधात् ; वास्तवं हि किंचित् क-
स्यचित् कारणमिष्टं नावास्तवं शशविषाणं, न चाविद्या वा-
स्तविका । यदि शुनर्यथा वास्तवं कारणं वास्तवमेव कार्यमु-
पजनयति तद्वद्वास्तवमवास्तवं विरोधाभावात् , ततश्चाविद्यो-
दयः स्वयमवास्तवो विकल्पवासनाप्रबोधमवास्तवं करिष्यती-
त्यभिधीयते, तदा विकल्पवासनाप्रबोधोऽप्यवास्तवो नीलादि-
व्यवसायमवास्तवमेव जनयेत् । वास्तवदर्शनहेतुत्वात् वास्त-
वोऽपि नीलादिविकल्प इति चेत् ; तर्हि वास्तवावास्तवाभ्यां
दर्शनविकल्पवासनाप्रबोधाभ्यां जनितो नीलादिविकल्पो वा-
स्तवावास्तवः स्यात्, तथा च तज्जनकं दर्शनं कथयिव तत्त्व-
ज्ञानमुपद्येत् संशयादिविकल्पजनकस्यापि दर्शनस्य तत्त्वज्ञान-
त्वप्रसंगात् । यथैव हि नीलादिविकल्पः स्वरूपे वास्तवः स्वा-
लंबने चावास्तवस्तथा संशयादिविकल्पोऽपि, सर्वचित्तचैत्ताना-
मात्प्रसंबोधनस्य वास्तवत्वात् तदालंबनस्य चाऽन्यापोहस्यावा-
स्तवत्वात् वास्तवावावास्तवोपपत्तिः । ननु दर्शनपृष्ठभाविनो वि-
कल्पस्य वस्तुव्यवसायकत्वात् तज्जनकं दर्शनं तत्त्वज्ञानं, न
पुनः संशयादिविकल्पजनकं तस्यावस्तुपरामर्शित्वात् । न हि
संशयेन विषयीकियपाणं चलिताकारद्रूयं वस्तुरूपं, नाऽपि
विषयासेनालंब्यमानं विषयीतं वस्तुरूपं यतोऽस्य वस्तुपराम-
र्शिता स्यादिति कश्चित् । सोऽप्येवं प्रष्टव्यः, कुनो नीलादि-
विकल्पस्य वस्तुव्यवसायित्वं सिद्धं ? वस्तुव्यवसायिविकल्प-
वासनाप्रबोधात्, सोऽपि वस्तुव्यवसायविद्योदयादिति चेत्

तर्ह्यविद्योदयवंशप्रभवो नीलादिविकल्प इत्येतदायातम् । तथा च तज्जननान्न दर्शनं तच्चज्ञानं युक्तमतिप्रसंगात् ।

तदविसंवादकत्वात् तच्चज्ञानमिति चेत्, तदपि यद्यर्थ-
कियाप्राप्तिनिमित्तत्वं तच्च प्रवर्त्तकत्वं तदपि प्रवृत्तिविषयो-
पदर्शकत्वमुच्यते तदा न व्यवतिष्ठते दर्शनस्याव्यवसाया-
त्पनः प्रवृत्तिविषयोपदर्शकत्वे क्षणक्षयाच्युपदर्शकत्वप्रसंगात्
नीलाद्युपदर्शकत्ववत्, नीलादिवत् क्षणक्षयादावपि दर्शन-
विषयत्वाविशेषात् । क्षणक्षयादौ विपरीतसमारोपान् तदुपद-
र्शकत्वमिति चेत्, सोऽपि कुतः ? सद्ग्नापरापरोत्पत्तिदर्शनाद-
विद्योदयाचेति चेत्, न सद्ग्नापरापरोत्पत्तिदर्शनस्य समारोप-
निमित्तस्यापरापरजलबुद्बुदोत्पत्तिदर्शनेन व्यभिचारात् तत्रै-
कत्वसमारोपसंभवात् तथान्तरंगस्य चाविद्योदयस्य वाव्यकार-
णारहितस्यासपर्थत्वात् तन्मात्रादेवान्यथा सर्वत्र विभ्रमप्रसंगात् ।

स्थानं, अपरापरजलबुद्बुदेषु राहग्नापरापरोत्पत्तिदर्श-
ने सत्यप्यविद्योदयासंभवान्नैकत्वसमारोपः ततो न व्यभिचार
इति । तदयुक्तम्, क्षणक्षयादिदर्शनस्यावोधिसन्वादप्रसिद्धः,
पश्यन्नर्यं क्षणिकमेव न पश्यतीति वचनस्य स्वप्नोऽथमात्र-
त्वात्, शक्यं हि उक्तं पश्यन्नर्यं नित्यमेव पश्यत्यनाव्यविद्योद-
यादपरज्ञानोत्पत्तिषु क्षणिकत्वसमारोपान्नावधारयतीति ।
क्रप्यौगपद्माभ्यामर्थक्रियाविरोधस्तु नित्यस्थेव क्षणिकस्यापि
विद्यत एव ततः पश्यन्नर्यं जात्यन्तरमेव पश्यति दर्शनमोहोद-
यात् दुरागमजनितवासनासहायाद्विपरीतसमारोपसंभवान्नाव-
धारयतीति युक्तमुत्पश्यामः । तथा चाक्षादिज्ञानस्य द्रव्यप-

र्यात्मकः कथंचित् नित्यानित्यात्मा सदृशोतरपरिणामात्म-
कः सामान्यविशेषात्मकः जात्यन्तरभूतोऽनेकान्तात्मार्थो विष-
यः सिद्धः, सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाणत्वात् तदुपर्दर्शकत्वं
प्रवृत्तिविषयोपर्दर्शकत्वं तत् प्रवर्त्तत्वं तत्त्वार्थक्रियाप्राप्तिनि-
पित्तत्वं तदप्यविसंवादित्वं तल्लक्षणं तत्त्वज्ञानं कथप्रिकल्पकं
जात्याधात्मकस्य सविकल्पकस्यार्थसामर्थ्येन समुद्भूतत्वा-
जात्यादिरहितस्य स्वलक्षणार्थस्य सर्वथाऽनर्थक्रियाकारिणो-
ऽनुपपत्तेः तत्कारणेन तत्त्वज्ञानस्योऽन्नासंभवात् निर्विकल्प-
कत्वादसिद्धेः । स्मान्यतम्, संहृतसकलविकल्पावस्थायां अ-
श्वविकल्पकाले गोदर्शनविषयाणा निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं प्रत्य-
क्षत एव सिद्धं । विकल्पेन नामसंश्रयेण प्रत्यात्मना वेदेन
रहितस्य प्रत्यक्षस्य संवेदनात् । तदुक्तम्—

प्रत्यक्षं कल्पनापोदं प्रत्यक्षेणैव सिद्धयति ।

प्रत्यगत्पवेदः सर्वेषां विकल्पो नामसंश्रयः ॥ इति
तदस्तु । व्यवसायात्मकस्यैव प्रत्यक्षस्य स्वसंवेदनप्रत्य-
क्षतः प्रसिद्धेः नामसंश्रयस्य विकल्पस्य तत्राऽनुपत्तं भेदप्रक्षादि-
संश्रयस्य संवेदनानत्वात्, संहृतसकलविकल्पावस्थायामपि
स्तिप्रितेनान्तरात्मना स्थितस्य चक्षुषा रूपमीक्षपाणस्याक्षजा-
या मतेः सविकल्पकात्मकाया एव प्रतीतेः । अन्यथा व्युत्ति-
तचित्तावस्थायां तथैव स्मरणाऽनुपपत्तेः एतेनानुपानात्प्रत्यक्षे
कल्पनाविरहसिद्धिरपास्ता । पुनः किंचिद्विकल्पयतो यथाऽ-
श्वकल्पना ममासीदिति विचित्तस्तथा गोनिश्चयोऽप्यश्वविकल्प-

काले पमेन्द्रियबलादासीदिति विच्छिरपि कथमन्यथोपपदेत् ग-
वाश्वविकल्पयोर्युगपद्विरोधात् । नैवं विच्छिः सत्येति चेत्, न
तयोः क्रमादेवाशूत्पत्तेर्यैगपद्याभिधानात् । तत्त्वतो ज्ञानद्रव्यस्य
सोपयोगस्य युगपदसंभवात्, क्वचिदुपयुक्तानुपयुक्तज्ञानयौग-
पद्यवचनेषि विरोधाभावात् । तर्हि गोदर्शनमनुपयुक्तमश्वविक-
ल्पस्तूपयुक्तस्तत्त्वयोर्युगपद्मावो युक्त एवेति चेत्, न किंचि-
दनिष्टं स्याद्वादिनां । तथाऽनुपयुक्तवेदनस्य निर्विकल्पकत्वस्या-
पीष्टत्वात् । क्वचित्किंचिदुपयुक्तं हि ज्ञानं व्यवसायात्मकमि-
ष्यते सर्वथाऽनुपयुक्तस्याव्यवसायात्मकस्य तत्त्वज्ञानत्वविरो-
धात् । न चैवं केवलज्ञानप्रतत्वज्ञानं प्रसज्येत तस्यापि नित्योप-
युक्तस्येन व्यवसायात्मकत्वोपगमात् । ननु च वीतरागाणां क-
चित्प्रष्टत्यसंभवात् सर्वदौदासीन्यादुपयोगभावादनुपयुक्तमेव
ज्ञानमनुपन्तत्वयम् । तथा च निर्विकल्पकं तत्सिद्धं । तददक्षा-
दिज्ञानपि निर्विकल्पकं सत् तत्त्वज्ञानं भविष्यतीति केचित्,
तेऽपि न युक्तिवादिनः, यौगज्ञानस्यानुपयुक्तत्वे सर्वपदार्थप्र-
तिभासनस्य विरोधात्, तस्यैवोपयोगरूपत्वाद्, युगपत्सर्वार्थ-
ग्रहणमेव हुपयोगः सर्वज्ञविज्ञानस्य, न पुनर्जिहासोपादित्साभ्यां
हानोपादानलक्षणा प्रवृत्तिः, तस्या रागद्वेषोपयोगनिबंधनत्वात्
प्रलीनरागद्वेषस्य सर्वज्ञस्य तदसंभवात् । कथमेवं सर्वज्ञविज्ञानं
निष्फलं न भवेदिति चेत्, न तदमिन्नस्य फलस्य सकलाज्ञान-
निवृत्तिलक्षणस्य सज्जावात्, सर्वस्य ज्ञानस्य साक्षादज्ञाननि-
वृत्तिफलत्वाद्वानोपादानोपेक्षाविषयस्य परंपराज्ञानफलत्वप्र-

सिद्धेः सकलवेदिविज्ञानस्य परम्परयाण्युपेक्षामात्रफलत्वात् ।
तथा चोक्तम्—

उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः ।

पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥ इति

नित्योपयुक्तत्वात्सर्वज्ञविज्ञानस्य स्वार्थव्यवसायात्मकत्वमेव
युक्तप्रन्यथा तस्यार्किंचित्करत्वप्रसंगात् तद्वद्भादिज्ञानानाम-
धीति न किंचिद्व्यवसायात्मकं तत्त्वज्ञानमस्ति येन साधन-
व्यभिचारः स्यात् । अत्रापरः प्राह—सत्यम्, व्यवसायात्मकं
तत्त्वज्ञानं अर्थव्यवसायलक्षणत्वात्, न तु स्वव्यवसायात्मकं
तस्य ज्ञानान्तरेण व्यवसायादिति । सोऽपि न प्रेक्षावतामभिधे-
यवचनोऽनवस्थानुषंगत्वात् । कस्यचिदर्थज्ञानस्य हि येन ज्ञानेन
व्यवसायस्तद्वा तावदव्यवसितमेव तस्य व्यवसायकं परात्मज्ञा-
नवत्, ज्ञानान्तरेण तद्व्यवसाये तु तस्यापि ज्ञानान्तरेण व्य-
वसाय इत्यनवस्थानं दुर्निवारं । ननु च ज्ञानस्य स्वविषये व्य-
वसितजनकत्वं व्यवसायात्मकत्वं तत्त्वं ज्ञानान्तरेण व्य-
वसितस्याऽपि युक्तं सञ्चिकर्षवत् । न हि सञ्चिकर्षादिः
केनचिद् व्यवसितो व्यवसितिमुपजनयति तद्वर्थज्ञानं ज्ञा-
नान्तरेणाव्यवसितमेव व्यवसितिमुत्पादयतीति कश्चित् । सो
ऽपि न प्रातीतिकवचनोऽर्थज्ञानस्यापि ज्ञानान्तरेणाव्यवसित-
स्यैवार्थव्यवसितजनकत्वप्रसंगात् ज्ञानज्ञानपरिकल्पनवैय-
र्थ्यात् । तथा लिंगस्य ज्ञानेनाव्यवसितस्य स्वलिंगिनि, शब्द-
स्याभिधेये, साहश्यस्योपमेये, व्यवसितजनकत्वसिद्धेस्तद्वि-

युक्त्यनुशासनं ।

ज्ञानान्वेषणं किमर्थं पुष्टीयात् । यदि पुनरुभयथा दर्शनाद-
दोष इति मतं तदाऽपि किंचिल्लिङ्गादिकमज्ञातं स्वलिङ्गादिषु
व्यवसितिमुषजनयत्कथमपवार्यते । चक्षुगदिकमपि किंचिद्वि-
ज्ञातमेव स्वविषये परिच्छित्तिमुत्पादयद्युभयथा दर्शनात् ।
स्यान्पतं चक्षुरादिकमेवाज्ञातं स्वविषयज्ञसिनिमित्तं हृष्टं, न तु
लिङ्गादिकं तदपि ज्ञातमेव नान्यथा ततो नोभयत्रोभयथा
प्रसंगः प्रतीतिविरोधादिति । तर्हि यथार्थज्ञानं व्यवसितर्थ-
ज्ञसिनिमित्तं तथा ज्ञानज्ञानमपि ज्ञानेऽस्तु तत्राऽप्युभयथा परिक-
ल्पनायां प्रतीतिविरोधस्याविशेषात् । क्या पुनः प्रतीत्याऽन्न
विरोध इति चेचक्षुरादिषु क्येति समः पर्यनुयोगः । विवादापन्नं
चक्षुरादिकमज्ञातमेवार्थज्ञसिनिमित्तं चक्षुरादित्वात्, यदेवं
तदेवं यथाऽस्मच्क्षुरादि, तथा च विवादापन्नं चक्षुरादि, त-
स्मात्तथा । विवादाध्यासितं लिङ्गादिकं ज्ञातमेव किंचिद्विज्ञसिनि-
मित्तं लिङ्गादित्वात्, यदित्थं तदित्थं यथोभयवादिमसिद्धं धूमादि,
तथा च विवादाध्यासितं लिङ्गादि, तस्मात्तथेत्यनुपानप्रतीत्या
तत्रोभयथाकल्पने विरोध इति चेत्, तर्हि विवादापन्नं ज्ञान-
ज्ञानं ज्ञातमेव स्वविषये ज्ञसिनिमित्तं ज्ञानत्वात्, यदेवं तदेवं य-
थार्थज्ञानं, तथा च विवादाध्यासितं ज्ञानज्ञानं, तस्मात्तथेत्यनु-
पानप्रतीत्यैव तत्रोभयथा कल्पनायां विरोधोऽस्तु सर्वथा वि-
शेषाभावात् तथा चानवस्थानं दुर्निवारमेव नैयायिकंमन्यानां ।
स्यादाकूत्तमर्थज्ञानमप्यर्थे ज्ञानांतरेणाज्ञातमेव ज्ञसिमुत्पाद-
यति यथा विशेषणज्ञानं विशेष्येर्थे, न पुनर्ज्ञानं तद्विज्ञानोत्पत्तेः

भागेव तत्र ज्ञानेरभावप्रसंगात्, न चैवं, तथा प्रतीतेर्थज्ञासायां हि स्वहेतोर्थज्ञानमुत्पद्यते । ज्ञानजिज्ञासायान्तु पश्चादेव ज्ञाने ज्ञानं प्रतीतेरेवंविधत्वादिति । तदप्यसत्यम् । स्वयमर्थज्ञानं भग्नेदमित्यप्रतिपत्तौ तथा प्रतीतेरसंभवात् प्रतिपत्तौ तु स्वत-स्तत्प्रतिपत्तिज्ञानान्तरात् वा । स्वतश्चेत् ? स्वार्थपरिच्छेदक-त्वसिद्धिर्वेदनस्य वस्तुबलप्राप्ता क्वचिदर्थे जिज्ञासायां सत्या-महमुत्पन्नमिति स्वयं प्रतिपद्यमान हि विज्ञानं स्वार्थपरिच्छेदकमभ्यनुज्ञायते नाम्यथेति जैनपतसिद्धिः । यदि पुन-ज्ञानान्तरात्तथा प्रतिपत्तिस्तदऽपि तदर्थज्ञानमज्ञातमेव मयार्थस्य परिच्छेदकमिति स्वयं ज्ञानान्तरं प्रतिपद्यते चेत्तदेव स्वार्थ-परिच्छेदकं सिद्धं, न प्रतिपद्यते चेत्कथं तथा प्रतिपत्तिः ?

किं चेदं च विचार्यते—ज्ञानान्तरमर्थज्ञानमर्थमात्मानं च प्रति-पद्याज्ञातमेव मया ज्ञातमर्थं जानातीति प्रतिपाद्यऽप्रतिपाद्य वा प्रथमे पक्षेर्थस्य तत् ज्ञानस्य स्वात्मनः स्वपरिच्छेदकत्वविध-यं ज्ञानान्तरं प्रसज्येत । द्वितीयपक्षे पुनरतिप्रसंगः, सुखादिकम-ज्ञातमेवाहृष्टं मया करोतीत्यपि जानीयादविशेषात्ततः किं वहुनो-क्तेन ज्ञानमर्थपरिच्छेदवत्तमिच्छतः स्वपरिच्छेदकमेषितव्यम् । यथेष्वरज्ञानं स्वपरिच्छेदकत्वाभावेर्थज्ञानव्युपपत्तेः । तथा चैवं प्रयोगः कर्त्तव्यः—विवादाध्यासितं ज्ञानं स्वपरिच्छेदकपर्थ-ज्ञानत्वात्, यदर्थज्ञानं तत्स्वपरिच्छेदकं यथेष्वरज्ञानं । अर्थज्ञानं च विवादाध्यासितं तस्मात् स्वपरिच्छेदकं । न चक्षुरादिना हे-तोर्व्यभिचारस्तस्याज्ञानत्वात्, नाऽपि मूर्दिष्ठतादिज्ञानेनार्थवि-

शेषण्टत्वात् । तद्वि मूर्च्छितादिज्ञानं नार्थज्ञानं पुनस्तदर्थे स्म-
रणप्रसंगात् । न च मूर्च्छितादिदशायां परैङ्गानपिष्ठं येन व्य-
भिचारः स्यात् । येषां तु तस्यापि दशायां वेदनया निद्रया-
वाऽभिभूतं विद्यमानमेव पत्तदशायां पदिरेत्यादिवत् पदाभि-
भूतिवेदनवदन्यथा तदा नैरात्म्यापत्तेगति पतं, तेषां विज्ञानस्य
स्वव्यवसायोऽपि तदभिभूतप्रसिद्ध एवेति कथं तेनानैकान्ति-
कता ज्ञानत्वस्य हेतोः स्यात्तोऽर्थज्ञानत्वं स्वव्यवसायात्मकत्वं
साध्यत्वेय साध्याविनाभावनियमनिश्चयात् । नन्दीश्वरज्ञान-
मुदाहरणसाध्यशून्यं तस्य स्वव्यवसायात्मकत्वाभावादिति
चेन्नेश्वरस्य मर्वज्ञत्वविरोधात् । ज्ञानान्तरेणात्मज्ञानस्य परि-
ज्ञानात् सर्वज्ञत्वे तदपि ज्ञानान्तरं स्वव्यवसायात्मकं चेत्तदेवो-
दाहरणं । ज्ञानान्तरेण व्यवसितं चेदनवस्थानं तत्राऽध्येत्रं
पर्यनुयोगात् । न चेश्वरस्य नानाज्ञानपरिकल्पना युक्ता सह-
स्रकिरणवत् साक्षात्सकलपदार्थप्रकाशकमेवेश्वरस्य मेच-
कज्ञानपिति मिद्दान्तविरोधात्, तदीश्वरस्य ज्ञानमुदाहरणमेव
साध्यवैकल्प्यानुपत्तेः साधनदैकल्प्याभावाच्च । अर्थज्ञानत्वं हि
साधनं तदुदाहरणे विद्यत एव विपक्षे बाधकप्रमाणसञ्ज्ञावादा
साध्याविनाभावनियमस्य प्रसिद्धेः प्रकृतसाधनं साध्यं साध-
यत्येव । स्वव्यवसायरहितत्वे ज्ञानस्यार्नाश्वर इवेश्वरेषि प्रमाण-
विरुद्धत्वात् । स्वव्यवसायात्मकसकलार्थज्ञानात्मकं चिदभिन्नस्य
परमात्मन एवाप्सपरीक्षायामीश्वरत्वसमर्थनात् । ततः स्थितमे-
तस्यार्थव्यवसायात्मकं तत्त्वज्ञानं प्रवृद्धं भानं प्रमाणमिति ।

परमार्थतः स्वव्यवसायात्मकमेव तत्त्वज्ञानं चेतनत्वात् स्वप्ने-
न्द्रजालादिज्ञानवदित्यपरस्तस्यापीदमनुपानज्ञानं स्वव्यवसा-
यार्थस्य व्यवसायकमव्यवसायकं वा, व्यवसायकं चेत् सिद्धं
स्वार्थव्यवसायात्मकं, तदृत्सर्वतत्त्वज्ञानं तथा स्यात् । अव्यव-
सायकं चेदसाधनांगं व्यर्थत्वात् । संव्यवहारतोऽनाव्यविद्यो-
दयकल्पितात्तदव्यवसायात्मकमिति चेत् तर्हि परमार्थतो ना-
स्मादनुपानात्स्वव्यवसायात्मकं साध्यं मिद्येदिति । यत्कि-
चनभाषी स्वव्यवसायात्मकज्ञानैकान्तवादी स्वार्थव्यवसाया-
त्मनो ज्ञानस्यार्थक्रियार्थिभिः संव्यहारिभिरादरणीयत्वात्,
प्रकाश्याप्रकाशकस्य पदार्थस्य प्रकाशार्थिभिरनादरणीयत्वा-
तदलपतिप्रसंगेन प्रपञ्चतः प्रमाणपरीक्षायां प्रमाणस्य तत्त्वज्ञा-
नस्य स्वार्थव्यवसायात्मकस्य परीक्षितत्वात् ।

ननु च त्वां वर्द्धमानं वीरं स्तुतिगोचरत्वं निनीषवः स्मो
 वयमद्येति वाक्यं न युक्तं व्याख्यातुं, त्वां वा त्वामेव वीरमे-
 वेति वाशब्देनावधारणार्थेन ततोऽन्यतीर्थकरसमूहस्य स्तुत्य-
 स्याभिमतस्य स्तुतिगोचरत्ववच्छेदानुषंगात् तथा च सिद्धा-
 न्तविरोध इति कश्चित् । सोऽपि न विषिद्धित, स्मोतुरभिप्राया-
 परिज्ञानात्स्य ह्यपभिप्रायोन्त्यतीर्थकरस्यैवेदंयुगीनतीर्थप्रका-
 शनप्रधानस्य वर्द्धमानत्वेन स्तुतिगोचरत्वसमर्थने सकलस्य
 स्तुत्यस्य सिद्धान्तप्रसिद्धस्य स्तुतिगोचरत्वं समर्थितं भवत्येव
 वर्द्धमानत्वस्य तत्साधनस्याविशेषात् यस्य यस्य वर्द्धमानं प्रवृद्धं
 मानं प्रमाणं केवलज्ञानं परमगुरोः, श्रुतज्ञानादि वा परगुरोर्निःश्ची

यते सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाणत्वेन सुखादिवत् तस्य तस्य स्तुतिगोचरत्वं प्रसिद्धं भवति । वीरशब्देन वा सर्वस्य स्तुत्यस्याभिधानात्, नायुक्तमवधारणार्थं वाशब्दव्याख्यानं महतो महासत्त्वस्यासहायस्यान्तरारातिनिर्जयनोद्यतस्य पुरुषविशेषस्य शक्तिशुद्धिप्रकर्षं दधानस्य लोके वीरशब्दप्रयोगात् । विशिष्टां मां लद्मीं मुक्तिलक्षणामभ्युदयलक्षणां वा रातीति वीर इति व्युत्पत्तिपक्षाश्रयणाद्वा सर्वस्य स्तुत्यस्य संग्रहात् प्रकृतवाक्यव्याख्यानं युक्तमुत्पदयामः ॥ किं विशिष्टं मां वीरमृद्घमानं निश्चिन्मन्त्रित भवन्तो यतः स्तुतिगोचरत्वं निनीषद्वा भवन्तीति भगवता पृष्ठा इव सूरयः प्राहुः—विशीर्णादोषाशयपाशवन्धमिति । अत्राङ्गानादिदोषस्त्वसाशयः संस्कारः पूर्वो दोष आशेतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्तेः । दोषहेतुर्वा ज्ञानावग्णादिकर्मप्रकृतिविशेषोदय इति भावकर्मणो द्रव्यकर्मणश्च वचनं, दोषशाशयश्च दोषाशयौ तावेत्र पाशौ ताभ्यां वन्धः पासनंत्रयं विशीर्णो दोषाशयपाशवन्धोऽस्येति विग्रहः । तदैतेनैतदुक्तं भवति, यस्यात्त्वां विशीर्णदोषाशयपाशवन्धं वयं निरणैषम् तस्माद्वर्धमानं स्तुतिगोचरत्वं निनीषवः स इति । कथमेवंविधं मां निरणैषु भवन्त इत्याहुर्यतः कीर्त्या महत्या शुभि वर्द्धमानं त्वां निरणैषम् । कीर्त्यन्ते जीवादयस्तत्त्वार्था यया सा कीर्तिर्मिगवतो वाक्, महती युक्तिशास्त्राविरोधिनी तया । शुभि मपवशरणभूमौ साक्षात्परंपरया सकलपृथिव्यां परमागमविषयभूतां वर्द्धमानः शुष्यन्निश्चित्तप्रेक्षावज्जनमनांसि परापराणि व्याप्त्वन्नित्यभिधीयते । सर्वत्र स-

वेदा सर्वेषां युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् सिद्ध हत्यर्थः । ततोऽयं समुदायार्थः, स्तुतिगोचरो भगवान्वीरः परमात्मा ऋद्धमानत्वात् यस्तु नैव स न वर्द्धमानो यथा वृथ्यापुरुषस्तथा चायं भगवानिति । तदवद्वर्धमानो भगवान् विशीर्णदोषाशयपाशवन्धत्वात् यस्तु नेतर्थं स न तथा यथा पिथ्याहक् तथा च भगवान् इति । विशीर्णदोषाशयपाशवंधो भगवान् कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानत्वात् यस्तु नैवंविधः स न तथा यथा प्रसिद्धो नासः, कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानश्च भगवान् तस्माद्विशीर्णदोषाशयपाशवंध इति केवलव्यतिरेकी हेतुरन्यथोपपत्तिनियमनिश्चयैकलक्षणत्वात् स्वसाध्यं साधयत्येव तथाऽऽस्मामांसायां व्याप्ततः समर्थितत्वात् । किंलक्षणा स्तुतिर्यदगोचरत्वं मां नेतुमिच्छन्ति भवन्ति इति भगवता प्रश्ने कृत इव सूत्यः प्राहुः—

याथात्म्यमुल्लङ्घ्य गुणोदयाख्या
लोके स्तुतिर्भूरिगुणोदधेरते ।
अणिष्टमप्यशदशक्तुवन्तो

वक्तुं जिन त्वां किमिव स्तुयाम ॥ २ ॥

“याथात्म्यमुल्लङ्घ्य गुणोदयाख्या लोके स्तुताः” इति चतुरशीतिर्लक्षणाणि गुणस्तेषां गुणानां याथात्म्यं यथावस्थितस्वभावस्तदुल्लङ्घ्य गुणोदयस्याख्या लोके स्तुतिरिति लक्ष्यते यद्यपेवं तदा स्तुतिकर्त्तरस्तावन्तः किं शक्ताः भगवता इति वर्यनुशुक्ताः प्राहुः—

“भूरिगुणोदधेष्टे । अग्णिष्ठुप्यंशमशक्नुवन्तो वक्तुं
जिन त्वां किमिव स्तुयाम ।” इति, तर्हि भूरिगुणोदधेर-
नन्तगुणसमुद्रस्य ममाग्णिष्ठुप्यंशं सूक्ष्मतममपि गुणं वक्तुं
यदि न शक्नुवन्ति भवन्तः किम्प्युपमानमपश्यन्तस्तदा कि-
मिति स्तोतारो भवन्तीति भगवता पर्यनुयुक्ता इव प्राहुः—

तथापि वैयात्यमुपेत्य भक्त्या
स्तोताऽस्मि ते शक्त्यनुरूपवाक्यः ।
इष्टे प्रमेयेऽपि यथास्वशक्ति
किञ्चोत्सहन्ते पुरुषाः क्रियाभिः ॥ ३ ॥

“तथाऽपि वैयात्यमुपेत्य भक्त्या स्तोताऽस्मि ते शक्त्यनु-
रूपवाक्यः ।” तथाऽपि तेऽग्णिष्ठुप्यंशं वक्तुमशक्नुवन्नपि वैया-
त्यं धाष्टर्थमुपेत्योपगम्य भक्त्या हेतुभूतया ते वीरस्य स्तोता-
अस्मि शक्त्यनुरूपवाक्यः सञ्चाहमिति संबन्धः परेऽप्येवमुत्सह-
मानाः सन्तीति दर्शनार्थमिदमुक्तम् ।

“इष्टे प्रमेयेऽपि यथास्वशक्ति किं नोत्सहन्ते पुरुषाः
क्रियाभिः ।” इति उत्सहन्त एवेत्यर्थः । यदि यथास्वशक्ति
स्वेष्टे प्राप्येत्ये प्रवृत्त्यादिक्रियाभिः समुत्सहमानपुरुषवत् भव-
न्तः स्तुतिं वक्तुं प्रवर्तन्ते तदा कियत वक्तुं शक्ता इत्याह—

त्वं शुद्धिशक्त्योरुदयस्य काष्ठां
तुलाव्यतीतां जिन ! शान्तिरूपाम् ।

अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता

महानितीयत्वातिवक्तुमीशाः ॥ ४ ॥

ज्ञानदर्शनावरणविगमः दमलज्ञानदर्शनाविर्भूतिः शुद्धिस्त-
थान्तरायविनाशाद्वार्यलाभ्यः शक्तिस्तयोरुदयस्य प्रकर्षस्य
काष्टाऽत्रस्था तां जिन ! भगवन् ! अवापिथ त्वं । किंविशिष्टां
तुलाव्यतीतामुषपमातिक्रान्तां तथा शान्तिरूपां प्रशमसुखात्मिकां
सकलभोहक्षयोद्भूतत्वात्तो ब्रह्मपथस्य नेता महान् परमात्मे-
ति, इथन्मात्रं प्रतिवक्तुमीशाः समर्था इत्यनेन यावती स्वशक्तिः
भगवत्संस्तवने तावती सुग्रिभिर्निवेदिता । तत्र शुद्धिः कचि-
त्पुरुषविशेषे परां काष्टामधित्पृष्ठीति प्रकृष्यमाणत्वात्परिमाण-
वत् तथा शक्तिः कचित्पुरुषविशेषे परां काष्टामवाभ्रोति प्रकृ-
ष्यमाणत्वात्परिमाणवदेवेति शुद्धिशक्तयोः प्रकर्षर्पयन्तं गमनं
प्रतिवर्हर्यते न पुनर्ज्ञानं कचित्परां काष्टां प्रतिपथ्यत इति साध्यते ।
मतिज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्य च धर्मित्वे परस्य सिद्धसाध्यतानुषंगात्
स्याद्वादिनश्च स्वेष्टसिद्धेरभावात् । अवध्यादिज्ञानत्रयस्य धर्मि-
त्वे परेषां धर्म्यसिद्धिः । सर्वज्ञवादिनां साधनवैफल्यं तस्मिद्दे-
रिव साध्यत्वात् । ज्ञानसामान्यधर्मित्वेऽपि मीमांसकस्य
सिद्धसाधनमेव चादनाज्ञानस्य परमप्रकर्षप्राप्तस्य सिद्धत्वात् ।
शुद्धेत्तु धर्मित्वनिर्देशे नोक्तदृष्टणावकाशः परेषां तत्र विवादात्
सिद्धसाध्यतानुषंगाभावात् वादिनः स्वेष्टसिद्धेरप्रतिबंधात् सर्व-
ज्ञत्वसामान्यस्य प्रसिद्धेः ।

ननु च यद्यहमेव महानिति प्रतिवक्तुं शक्यस्तदा मदीय-
शासनस्यैकाधिपत्यलक्ष्मीः किमन्यतीर्थिभिरपोद्यते तदपवाद-
हेतुः कथिदस्तीति चेत्सोऽभिधीयतामिति भगवत्पश्ने सूरयः
प्राहुः—

कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा
श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनाशयो वा ।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी—
प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः ॥ ५ ॥

तत्र शासनं सर्वमनेकांतात्पकं इति पतं तस्यैकाधिपति-
त्वं सर्वैरवद्याश्रयणीयत्वपर्यकिगार्थिभिरन्यथा तदनुपपत्तेस्त-
देव लक्ष्मीः, निःश्रेयसाभ्युदयलक्ष्मीहेत्वानास्यां प्रभुत्वं सकलं
प्रवादितिरस्कारित्वं तत्र शक्तिः पापधर्षी परमागमान्वितायुक्ति-
क्तस्याः संप्रत्यपवादहेतुर्वाह्यः साधारणः कलिरेव कालः सोऽ-
साधारणम्बुद्धतुर्वचनाशय एव, अन्तरंगस्तु स्तोतुः कलु-
षाशय एव दशद्वयोऽप्रांतचेतः । सर्वत्र वाशब्द एवका-
रार्थी द्रष्टव्यः अन्तरंगमूचको वा, तेन वलिर्वा कालः क्षेत्रा-
दिर्वा तथादिष्य इति वगम्यते । तथाचर्यस्य प्रवक्तुर्वचना-
शयो वाऽनुष्ठानाशयो वेति ग्राह्यम् । तथा स्तोतुः कलुषाशयो
वा जिज्ञासानुपपत्तिर्वाह्यः हेतुरपवादक इति प्रतिपत्तव्यः ॥

कीदृशं पुनर्मदीयशः सनमित्यभिधीयते;—

दयादमत्यागसमाधिनिष्ठं नयप्रमाणप्रकृतांजसार्थम् । अधृष्यमन्यैरस्विलैः प्रवादै— र्जिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥ ६ ॥

साकल्येन देशतो वा प्राणिहिसातो विरतिर्दयाव्रतमनु-
तादिविरतेस्तत्रान्तर्भावात् । मनोङ्गामनोङ्गेन्द्रियविषयेषु राग-
द्वेषविरतिर्दमः संयमः । वाह्याभ्यन्तरपरिग्रहत्यजनं त्यागः ।
पात्रदानं वा । प्रशस्तं ध्यानं शुक्लं धर्मं वा समाधिः ।
दया च दमश्च त्यागश्च समाधिश्चेति द्वन्द्वे निमित्तनैमित्तिक-
भावनिवंधनः पूर्वोत्तरवचनक्रमः, दया हि निमित्तं दमस्य
तस्यां सत्यां तदुपपत्तेः, दमश्च त्यागस्य, तस्मिन्सति तद्वट-
नात्, त्यागश्च समाधेस्तस्मिन्सत्येव विक्षेपादिनिवृत्तिसिद्धे-
रेकाग्रस्थं समाधिविशेषस्योपपत्तेः, अन्यथा तदनुपपत्तेः । तेषु
दयादमत्यागसमाधिषु निष्ठा तत्परता यस्मिन्मते तत् त्वदीयं मतं
शासनमद्वितीयमेकमेव सर्वाधिनायकमित्यर्थः । कुतो मदीयं मतमे-
वंविधं सिद्धमिति चेत् “नयप्रमाणप्रकृतांजसार्थम्” यस्मात् ,
नयौ च प्रमाणौ च नयप्रमाणानीति द्वन्द्वे प्रमाणशब्दादभ्य-
र्हितार्थादपि नयशब्दस्यात्याच्चतरस्य छन्दोवशात्पूर्वनिपातो न
विरुद्धयते । प्रकर्षेण सर्वदेशकालपुरुषपरिषदपेक्षालक्षणेन
कुतो निश्चित इत्यर्थः । अंजसा परमार्थेन प्रणीत आजसोऽसं-
भवद्वाधक इति भावः । अर्थो जीवादिर्द्रव्यपर्यायात्मा । नयप्र-

माणैः प्रकृत आंजसोऽथोऽस्मिन्निति नयप्रमाणप्रकृतांजसार्थं
मतम् । नयप्रमाणैः सुनिश्चितासंभवद्वाधकविषयमित्यर्थः ।
तथाविधमपि कुतः सिद्धमिति चेत् यस्मादधृष्यमन्यैरस्विलैः
प्रवादैरिति निवेद्यते । दर्शनमोहोदयपश्वरौः सर्वथैकान्तवा-
दिभिः प्रकलिप्ता वादाः प्रवादाः सर्वथैकान्तवादास्तैरस्विलैर-
स्विलदेशकालपुरुषगतैरधृष्यमवाध्यमिति निश्चयः । कस्माच्चै
कलिप्ता वादा न पुनः परमार्थविभासिन इति चेत्, यस्मात्
त्वदीयमतादन्ये वाद्याः सम्यग्नेकान्तमताव्येवाद्या मिथ्यैका-
न्ता भवन्ति ते च कलिप्तार्थाः प्रसिद्धास्तद्वादाः कथमिद्य
परमार्थपथप्रस्थापकाः स्युर्यतस्तैरवाध्यं त्वदीयं मतं न स्यात्,
न हि मिथ्याप्रवादैः सम्यग्वादो वाधितुं शक्योऽतिप्रसंगात् ।
ननु च द्रव्यार्थिकनयेन निश्चितोर्थो न पारमार्थिको मदीय-
मतस्य मिद्धः परेषां संभवद्वाधकत्वात्, पर्यायार्थिकनयैस्तु
निश्चितार्थवत् । तथाहि— न जीवाद्विकद्रव्यमेकमनपायि वा-
स्तवं क्रपयौगपद्याभ्यामर्थकियाविरोधात् । नहि द्रव्यस्य दे-
शकृतस्तावत् कश्चित् क्रमः संभवति निष्क्रियत्वात्स्य देशा-
न्तरगमनायोगात्, सक्रियत्वे सर्वव्यापकत्वविरोधात् । नाऽपि
कालकृतः शाश्वतिकत्वात्सकलकालव्यापित्वात् प्रतिनियत-
कालत्वे नित्यत्वविरोधात् द्रव्यत्वाधटनात् । स्वयमकमस्य सह-
कारिकारणक्रमापेक्षः क्रम इत्यप्यसारं, सहकारिभ्यः कंचिदप्य-
तिशयमनासादयतस्तदपेक्षः नुपपत्तेरतिप्रसंगात् । सहकारिकृत-
मूपकारमात्मसाकुर्वतः कार्यत्वप्रसंगादनित्यत्वापेक्षः । यदि तु

नित्यद्रव्यस्य कंचिदप्युपकारमकुर्वतामपि सहकारित्वमुररीकि-
यते तेन सह संभूय कार्यकरणशीलानामेव सहकारित्वव्यव-
स्थितिरिति मतं, तदपि न नित्यद्रव्यस्य क्रमः सिद्धयेत्
तस्याक्रपत्वात्; सहकारिणामेव क्रमवत्त्वात् । सहकार्यपेक्षः
क्रमोऽपि द्रव्यस्यैवेति चेत् न, तस्याऽपि देशकृतस्य कालकृत-
स्य वा विरोधात् । तथा क्रमेण सहकारिणामपेक्षपाणस्य
कालभेदादनित्यत्वप्रसंगात् कार्येणाऽपि क्रमेणापेक्षपाणस्य
भेदापत्तेः सहकारिविशेषत्वं ततो न क्रमः सर्वथा द्रव्यस्य
संभवति । नाऽपि यौगपद्यं युगपदेकस्पिन्समये सकलार्थक्रिया-
निष्पादितनिष्पादनप्रसंगाद्वा । तदेवं द्रव्यान्वित्यात्मकात् क्रम-
यौगपद्ये निवर्तमाने स्वव्याप्यार्थक्रियां निवर्तयतः, सा च
निवर्त्तमाना वास्तवत्वमिति व्यापकानुपलब्धेवाधिकायाः
संभवान्नासंभवद्वाधकत्वं द्रव्यस्य सिद्धं सौमतानां । नाऽपि
पर्यायस्य ज्ञाणिकस्यासंभवद्वाधकत्वं सिद्धयति तत्राऽपि व्या-
पकानुपलंभस्य वाधकस्य संभवात् । तथाहि—पर्यायो न वा-
स्तवोऽर्थक्रियानुपलंभात्, न तत्रार्थक्रियोपलंभः क्रमयौगप-
द्यविरोधात्, न तत्र क्रमयौगपद्ये संभवतः परिणामानुपल-
ब्धेः, न तत्र परिणामोऽस्ति पूर्वोत्तराकारव्यापिद्रव्यस्थितिरस्ते नु-
पलब्धेः, न तत्र पूर्वोत्तराकारव्यापिद्रव्यस्थितिरस्ते प्रतिज्ञ-
गम्यमुत्पादानन्तरं निरन्वयविनाशाभ्युपगमात् । न च तत्र क-
स्यचित्कृतश्चिदुत्पत्तिर्थिते, सति कारणे कार्यस्योत्पत्तौ क्ष-

गम्भगप्रसंगादसति कारणे कार्यस्योदये विनष्टतपस्य भविष्यतमस्य च कारणत्वप्रसंगस्तस्मिन्नप्यसति कार्यस्योदयात् । एतेन स्वकाले सति कारणे कार्यस्योदयचिरिति पक्षान्तरमप्यपास्तम् । कारणात्वेनाभिपतस्यापि स्वाकाले सञ्चोपपृच्छेः । तदित्थं नयनिश्चितोऽर्थो न पारमार्थिकः शासनस्य संभवद्वाधकत्वात्मेभिरिकज्ञाननिश्चितेन्दुद्रव्यवत् । तथा प्रमाणप्रकृतोऽप्यर्थो द्रव्यपर्यायात्मको नांजसः सिद्धयेत्, तत एव तद्वत् स हि येनात्मना नित्यस्तैनैवात्मनाऽनित्यश्चेद्विरोधो वायकः, स्वभावांतरेण चेदैयधिकरणयं तस्य प्राप्तं परस्परविरुद्धयोर्नित्यानित्यात्मनोरेकाधिकरणत्वादर्शनात्, क्वचिदेशे शीतोष्णस्पर्शवत्, तयोरेकाश्रयत्वे वा युगपदेकेनैवात्मना नित्यानित्यत्वयोः प्रसक्तेः संकरः स्यात् । येनात्मना नित्यत्वमिष्टं तेनानित्यत्वमेव, येन चानित्यत्वं तेन नित्यत्वमेवेति परस्परगमनात् व्यतिकरः, अथमात्मानं पुरोधाय नित्यो जीवादिर्थः कथ्यते, एवं पुरोधायानित्यस्तौ यदि ततोऽर्थान्तरभूतौ, तदा वस्तुत्रयप्रसंगस्तानि च त्रीयपि वस्तुनि यदि नित्यानित्यात्मकानि तदा प्रत्येकं पुनर्वस्तुत्रयप्रसंग इति अनवस्था स्यात् । वदि तु तौ ततोऽनर्थान्तरभूतौ तदा जीवादिर्थं एव न तावात्मानौ तदभावात्मेन न नित्याश्चानित्याश्च व्यवस्थाप्यते, तावेव चात्मानौ न ततोऽपरोऽर्थः स्यादिति कस्यचिन्नित्यत्वानित्यत्वे तौ साधयेयातां । स्वयमेव तौ नित्यानित्यौ स्यातानितिं चेच्चहि यो नित्यः स नित्य एव, यश्चानित्यः सोऽनित्य-

एवेति प्राप्तं, तथा चोभयदोषानुषंगः सर्वथैकस्य नित्यानि-
स्यात्मकस्यार्थस्याप्रतिपत्तिप्रसंगः । इश्यतयोपगम्यमानस्य च
सर्वथाऽनुपलब्धेरभावप्रसंगः तस्याद्इश्यत्वप्रतिज्ञाने चादृष्टप-
रिकल्पनप्रनुषज्येतेत्यनेकबाधकोपनिषातान्न प्रमाणनिश्चितोऽर्थः
शासनस्यांजसः स्यादाकाशकेशपाशप्रकाशकशासनवत् तैमि-
रिकस्येति कथं नयप्रमाणप्रकृतांजसार्थं मदीयं मतं स्यादन्यैर-
खिलैः प्रवादैः सौगतादिभिः धृष्ट्यमाणत्वाच्चत एव न दयाद-
मत्यागसमाधिनिष्ठुं सर्वथा संभवद्वाधकस्य जीवस्य दयादिच्छु-
ष्ट्यासंभवात् तद्विषयस्य दयादिनिष्ठुत्वासिद्वेस्तथा च कथमद्विती-
यं सर्वाधिनायकत्वानुपपत्तेरिति वदन्तमिव भगवन्तं विज्ञापयन्तः
सूर्यः प्रमाणनयप्रकृतं पारमार्थिकं तत्त्वं साधयन्ति—

अभेदभेदात्मकमर्थतत्त्वं

तत्र स्वतंत्रान्यतरत् खपुष्पम् ।

अवृत्तिमत्त्वात्समवायवृत्तेः

संसर्गहानेः सकलार्थहानिः ॥७॥

दीका—अभेदो द्रव्यं नित्यं, भेदः पर्ययो नश्वरस्ता-
वात्मानौ यस्य तदभेदभेदात्मकं तत्र भगवन् ! अर्थतत्त्वं
जीवादितत्त्वं परस्परतंत्रं द्रव्यपर्यायात्मकमित्यभिधीयते अ-
स्पाभिर्न पुनः स्वतंत्रं द्रव्यपर्यायं पर्यायमात्रं वा तदुभयं वा
विज्ञाप्यते तस्य खपुष्पसपत्वात्, प्रतिपादितक्रमेण संभवद्वाध-
कस्यास्पाभिरपीष्टत्वाद्वास्तवत्त्वानुपपत्तेः, नयप्रकृतस्य प्रमाण-

प्रकृतस्य वाऽर्थस्य जात्यन्तरस्यांजसस्य त्वदीयमतेन स्वीकरणादद्वितीयमेव तवेदं मतमनुभव्यामहे ततोऽन्यैरखिलैः प्रवादैरधृष्यत्वसिद्धेः ।

ननु चास्तु स्वतंत्रं द्रव्यमेकं खपुष्पसमानं प्रत्यक्षादिभिरनुपलभ्यपानत्वात् क्षणिकपर्यायवत् तदुभयं तु द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायरूपं सत्तत्वं प्रागभावादिरूपमेवासत्तत्वं स्वतंत्रमपि कथं खपुष्पवत् स्यात्स्य द्रव्यादिप्रत्ययविशेषविषयस्य सकलजननप्रसिद्धत्वादिति चेत्, न कारणकार्यद्रव्ययोर्गुणगुणिनोः कर्मतद्वतोः सामान्यतद्वतोर्द्विशेष्यतद्वतोश्च पदार्थन्तरतया स्वतंत्रयोः सकुदप्यपतीयमानत्वात्सर्वदावयवावयव्यात्मनोर्गुणगुणयात्मनः कर्मतद्वदात्मनः सामान्यविशेषात्मनश्चार्थतत्त्वस्य जात्यन्तरस्य प्रत्यक्षादितः सर्वस्य निर्बाधप्रभासनात् ।

स्यान्मतं, परस्परनिरपेक्षमपि पदार्थपञ्चकं समवायसंबंधविशेषवशात् परस्परात्मकमिवावभासतेऽनुत्पन्नब्रह्मतुलाख्यज्ञानातिशयानामस्मादशामिति । तदपि न परीक्षाक्षमं सर्वदाऽस्मदादिप्रत्यक्षस्य भ्रांतत्वप्रसंगात्तपूर्णिकानुप्रानादेरपि प्रमाणत्वानुपपत्तेरप्रमाणभूतात्प्रत्ययविशेषात्पदार्थविषयव्यवस्थापनासंभवात्; तथाऽभ्युपगम्यापि पर्यनुयुंजमहे—अवयवावयव्यादीनां समवायवृत्तिः पदार्थान्तरभूता ततो वृत्तिपती वा स्यादवृत्तिपती वा? न तावत् प्रथमकल्पना संभवति तत्र संयोगवृत्तेरयोगात्तस्याद्रव्यवृत्तिवादन्यथा गुणात्ववद्विरोधात् । न समवायवृत्तिः समवा-

न्तरस्यानभ्युपगमात् विशेषणभावस्यापि वृच्चिविशेषस्य स्वतं-
श्रपदार्थादिष्यत्वादन्यथातिपसंगात् सद्विद्धियोरपि विशेषणा-
विशेष्यभावानुषंगात् । संभवंती वा विशेषणभावाख्या वृच्चिमद्भ्यो
जर्थान्तरभूता वृच्यतंतरानपेक्षा न जाग्रटीति तद्वृच्यतंतरापेक्षायाम-
नवस्थानात् कुतो वृच्चिर्वर्यवस्थिता स्याद्यथा समवायवृच्चिर्वृत्ति-
पतीष्यते । यदि पुनरवृच्चिपतीनि कल्पनोत्तरा समान्वितये
तदाप्यवृच्चिमत्त्वात्समवायवृत्तेः संपर्गहानिः सकलार्थानाम-
नुषड्यमाणा महे श्वरेणापि निवारयितुपश्चव्यापनीपत्रेत । यदि
पुनः स्वभावतः सिद्धः संसर्गः पदार्थानामन्योन्यं न पुनरसं-
स्पृष्टानां समवायवृच्या संसर्गः क्रियते समवायसमवायिवदिति
पतांतरमुररीक्रियते तदा स्याद्वादशासनमेवाश्रितं स्यात् स्वभा-
वत एव द्रव्यस्य गुणकर्मसामान्यविशेषैश्चैवैः कर्थंचित्तादा-
इयपनुभवतः प्रत्ययविशेषवशादिदं द्रव्यमयं गुणाः कर्मेदं सा-
मान्यमेतत् विशेषोऽसौ तत्संबंधोऽयमविष्वग्भावलक्षणाः सम-
वाय इत्यपोदधृत्य सञ्चयनिवंत्वनो व्यवहारः प्रवर्त्तत इत्यनेका-
न्तमतस्य प्रसिद्धत्वात् ; स्वतः परतो वार्थानां संसर्गहानौ तु सक-
लार्थहानिः स्यात्, तापनिच्छङ्किरभेदभेदात् कर्मर्थतत्त्वं परस्प-
रतंत्रं प्रातीतिकर्मर्थक्रियासमर्थं सामर्थ्यात् समर्थनीयं तत्र विरो-
धानवकाशात्तत्रोपलंभस्यावाधितस्य सञ्चावात् तद्विरोधस्य वाऽनु-
पलंभलक्षणत्वात्सुदूरमप्यनुसृत्य सर्वैः प्रवादिभिरेकस्य वस्तुनो
ज्ञेकात्मकस्याश्रयणीयत्वात् योगैः सामान्यविशेषवत् ; न हि सा-
मान्यविशेष एव एवानुवृत्तिव्यावृच्चिग्रत्ययजननशक्तिद्वयात्पको

नैष्यते । स्वसमयविरोधाच्छक्तिद्वयस्य ततो भेदो नैकोऽनैका-
त्मक इति चेत् न, तस्य निःशक्तिकत्वप्रसंगात् । तस्य शक्ति-
भ्यां संबंधान्न निःशक्तिकत्वमिति चेत्तर्हि तस्य शक्तिभ्यां
संबन्धौ स्वीकुर्वतः कथमनेकात्मकं न स्यात् । तत्संबंधयोरपि
ततो भेदे तदेव निःशक्तिकत्वं ताभ्यामपि संबंधाभ्यामन्ययोः
संबंधयोः परिकल्पनायामनवस्था स्यात् । तदसत्, तत्संबंधात्म-
कत्वोपगमे शक्तिद्वयात्मकत्वमेवास्तु शक्तिशक्तिपतोः कंथचित्ता-
दात्म्यात्, तथा च सामान्यविशेष एवैकोऽनेकान्तात्मके वस्तुनि
विरोधं निरुणद्धीति किं नश्चिन्तया, तद्वैयविकरण्यादिदृषण-
कदंबकपि ततो दूरतरं समुत्सारयतीति कुतं प्रयासेन; स्वयं मेच-
कज्ञानं चैकानेकं प्रतिभासं स्वीकुर्वत् कथमनेकान्तं निरसितुमु-
त्सहते सचेतनः । मेचकज्ञानमेवेत्ययुक्तं तस्य नानास्वभावत्वा-
भावेऽनेकार्थग्राहित्वविरोधात्; नानार्थग्रहणस्वभावोऽप्येकएव त-
स्येष्यते सञ्चादिसामान्यस्य नानाव्यवितव्यापैकस्वभाववदिति
चेत्, न तथा परं प्रति साध्यत्वात् सत्प्रत्ययाविशेषाद्विशेषर्लिंगा-
भावादेकं सञ्चसापान्यमेकस्वभावं सिद्धं तद्रत् द्रव्यादिसामान्यं
द्रव्यत्वादिप्रत्ययाविशेषाद्विशेषर्लिंगाभावाचेति चेत्, न सञ्च-
द्रव्यादिप्रत्ययस्य प्रतिव्यक्तिविशेषसिद्धेः सञ्चद्रव्यत्वादिसामा-
न्यस्यानेकत्वव्यवस्थितेः । इदं च सदिदं च सदिति समाने इमे
सती तथा समाने द्रव्ये गुणौ कर्मणी चेति समानप्रत्ययात् समान-
यरिणामस्य प्रतिव्यक्तिव्यक्तयंतरापेक्षया प्रभिद्यमानस्य निर्बाध-
बोधाधिरूढत्वात् । तत्र वृत्तिविकल्पानवस्थादिबाधकस्यानवका-

शात् । ननु च समानपरिणामेषु समानप्रत्ययात् समानपरिणामा-
न्तरप्रसंगादनवस्थानं बाधकप्राप्त्येवेति चेत्, न समानपरिणा-
मानां व्यक्तिष्वेव स्वेष्वपि समानप्रत्ययहेतुत्वादनवस्थानुपपत्तेः
स्वयं व्यक्तयस्तथा समानप्रत्ययहेतवः सन्तु किं समानपरिणा-
मकल्पनयेत्यप्यनालोचनाभिशानं कर्कादिव्यक्तीनामपि गोप्र-
त्ययहेतुत्वप्रसंगात् । गोरुषेण समानेन परिणता एव खंडादि-
व्यक्तयो गोप्रत्ययहेतव इति चेत्. मिदः समानपरिणामोऽनेकः
प्रतिव्यक्तिभेदप्रतीतेः । नहि गोत्वं सामान्यमेकं तत्समवा-
यात् खंडादिषु गोप्रत्यय इति व्यवस्थापयितुं शक्यं कर्कादि-
व्यक्तिष्वपि तत्समवायात् गोप्रत्ययत्वप्रसंगात् । न च सर्व-
व्यक्तिभ्यः सामान्यस्य समवायस्य च सर्वथा भेदेष्वपि खंडा-
दिव्यक्तिष्वेव गोत्वं समवैति न पुनः कर्कादिष्विति युक्तमु-
त्पश्यामः । इह खंडादिषु गोत्वमिति सत्प्रत्ययाविशेषात्खंडा-
दिष्वेव गोत्वस्य समवाय इति चेत्, तर्हि नानासमवायः
सिद्धः प्रतिसमवायिप्रत्ययभेद त् समवायिन एव नानासम-
वायसत्त्वंभावेन व्यरूप्यात्पर्मित वचनात् । सत्तारूपदेकत्वप्र-
सिद्धेरिति चेत्, नैकस्य निरंशस्य देश शालभिन्नसमवायिषु
सर्वथेहेदप्रिति प्रत्ययहेतुत्वविरोधात् संयोगस्याप्येकस्यानंशस्य
संयोगिषु संयुक्तप्रत्ययहेतुत्वप्रसंग त् तथा चैक एव समवा-
यवत् संयोगः स्यादिति यौगपतमतिर्वर्तते । यदि पुनर्नाना
संयोगः शिथिलः संयोगो निविडः संयोग इति विशेषप्रत्य-
यान्मन्यध्वं तदा नित्यः समवायो नश्वरः समवाय इति प्रत्य-

यभेदात् समवायोऽपि । नानावस्तुसमवायिनोरनित्यत्वात्स-
चेत् तर्हि संयोगिनोः शिथिलत्वात्संयोगः शिथिल इत्युपच-
र्थतां परमार्थतस्तस्य निविडरूपत्वात् । नानासंयोगो युतसिद्ध-
द्रव्याश्रयत्वाद्विभागवदिति चेत् न, द्रव्यत्वेन परस्परव्यभिचा-
रात् तथा समवायो नाना स्यादयुतसिद्धावयवयविद्रव्याश्र-
यत्वाद् द्वित्वसंख्यावदित्यपि शक्यं वक्तुं । समवायस्यानाश्रय-
त्वादसिद्धोत्र हेतुरिति चेत्, न षण्णामाश्रितत्वमन्यत्र नित्य-
द्रव्येभ्य इति वचनविरोधात् । समवायस्योपचारादाश्रितत्व-
सिद्धेस्तथा वचने न विरुद्धते समवायिनोः सतोरेवेहेदपि-
ति प्रत्ययोत्पादस्योपचारकारणस्य सज्जावादिति चेत्, कथ-
मेवपवयवावयविद्रव्याश्रयत्वात् इति हेतुरसिद्धः स्यात् तस्यो-
पचारानुपचारानपेक्षयाश्रितत्वात्, सामान्यरूपत्वेनाभिधानात् ।
परमार्थोऽनाश्रितत्वेऽपि एतदभिधीयते-नानासमवायो नाश्रि-
तत्वात् परमाणुवदिति । नन्वेव वदन् समवायं धर्मिणं प्रप-
द्यते चेत्, कालात्ययापदिष्टो हेतुश्च धर्मिणाहकप्रमाणवाधि-
तत्वात् । न प्रतिपद्यते चेदाश्रयासिद्धो हेतुरित्यपि न दूषणं
समवायस्याविष्वगमावसंबंधस्य कदाचित्तादात्म्यलक्षणस्यैक-
त्वानेकत्वाभ्यां विवादापन्नस्य प्रतिपत्तेर्धर्मिणाहकप्रमाणान्त-
रैकत्वासिद्धेस्तेन बाधाऽनुदत्तेः कालात्ययापदिष्टत्वायोगात् ।
तदेकत्वसाधनस्य च प्रमाणस्यासंभवात् स्वप्रत्ययविशेषस्यासि-
द्धत्वात् । कालादभिर्व्यभिचार इति चेत्, न तेषामपि कथंचि-
न्नानात्वसिद्धेः कालस्य संख्येयद्रव्यत्वात्खस्यानंतप्रदेशत्वात्

स्याद्वादिनां पर्ते, ततः समवायस्य नानात्वप्रसिद्धौ च सामान्यस्य
प्रतिव्यक्तिसमवायं कथंचित्तादात्म्यं प्रतिपथमानस्य नानात्व-
सिद्धिर्नानाव्यक्तितादाभ्येन स्थितत्वात् व्यक्तिस्वरूपवदिति
नैकस्वभावं सामान्यं सत्यं द्रव्यत्वादि वा परमपरं वा सिद्धं यत्
इदमुच्यते नानाव्यक्तिव्यापकैकस्वभावसामान्यवन्नानार्थग्रा-
हकैकस्वभावं मेचकज्ञानमिति । नानास्वभावत्वे तु मेचकज्ञा-
नस्यैकस्य तदेवाभेदभेदात्मकं वस्त्वेकानेकात्मकं नित्या-
नित्यात्मकं साधयेत् सकलविरोधादिबाधकपरिहरणासमर्थत्वात्
सौगतानां च वेदवेदकाकारसंवेदनं तत्त्वमेकमनेकात्मकं साध-
यत्येव । वेदवेदकाकारयोभ्रांतित्वे संवेदनस्य चाभ्रान्तत्वे
भ्रान्तेतराकारमेकं संवेदनं, भ्रान्ताकारस्य चासत्त्वे संविदा-
कारस्याभ्रान्तस्य सत्ये सदसदात्मकमेकं, विषयाकारविधे-
कितया परोक्षत्वे संविद्रूपतया प्रत्यक्षत्वे परोक्षप्रत्यक्षाकारमेकं
विज्ञानं कथं निराकुर्युः यतोऽनेकान्तसिद्धिर्न भवेत् । कपि-
लानां तु तत्त्वमेकं प्रधानं सञ्चरजस्तमोरूपं सर्वथैकान्तकल्प-
नां शिथिलयत्येव । तस्यैवानेकान्तात्मकवस्तुसाधनत्वात् ।
सञ्चादीनमेव साम्यमापन्नानां विनिदृतप्रसवप्रवृत्तीनां प्रधान-
व्यपदेशःत् । तदव्यतिरिक्तप्रधानाभावान्नैकमनेकान्तात्मकमिति
चेत् नैकप्रधानाभ्युपगमविरोधात् प्रधानव्रयसिद्धः । सर्वसं-
हारकाले प्रधानमेकमेवाद्यं न सञ्चादयस्तेषां तत्रैव लीनत्वा-
दिति चेत्, कथमेकस्मादनेकाकारं महत् प्रजायेतातिप्रसंगात् ।
सुखदुःखमोहशक्तिव्यात्मकत्वात्प्रधानस्य न दोष इति चेत्,

कथमेवमेकपर्नेकशत्त्यात्मकं प्रधानपर्नेकांतं न साधयेत्, भो-
क्तुत्वाद्यनेकधर्मात्मकपुरुषतत्त्ववत् । भोक्तुत्वादीनामवास्तवत्वा-
देकमेव पुरुषतत्त्वमिति चेत्, न वास्तवावास्तत्त्वसिद्धेः; पुरु-
षस्यानेकत्वानिवृत्तेः । तस्यावास्तवधर्मरूपेणासत्त्वानेकरूप-
त्वमिति चेत्, न तथा सदसदात्मकतयाऽनेकांतसिद्धेः । ततो
भगवतो जिनस्य मतमद्वितीयमेव नयप्रमाणप्रकृतांजसार्थत्वा-
दस्तिलैः प्रवादैरधृष्यत्वाच्च व्यवस्थितमिति योगमतस्यैव स-
दोषत्वसिद्धेरविलार्थहानिर्व्यवतिष्ठते ।
इतथ सकलार्थहानिर्यागानामित्यभिधीयते—

भावेषु नित्येषु विकारहाने—

न कारकव्यापृतकार्ययुक्तिः ।
न बंधभोगौ न च तद्विमोक्षः,
समंतदोषं मतमन्यदीयं ॥८॥

टीका— दिकालाकाशात्ममनःसु पृथिव्यादिपरमाणुद्र-
व्येषु परमप्रत्यक्षादिषु गुणेषु सामान्यविशेषसमवायेषु च भा-
वेषु नित्येष्वेवाभ्यनुज्ञायमानेषु विकारस्य विक्रियारूपस्य
हानिः प्रसञ्चयेत् । विकारहानेश्च न कारकव्यापृतं कर्त्रादिका-
रकव्यापारस्य विक्रियापाये संभवाऽभावात् । क्रियाविष्टं द्रव्यं
कारकमिति प्रसिद्धेः । कारकव्यापृताभावे च न कार्यं द्रव्यगु-
णकर्मलक्षणं प्रतिष्ठामियतर्तीति । नदप्रतिष्ठायाच्च न युक्तिरनु-
भानक्षणानुर्बधे साध्ये तस्याः कार्यलिङ्गत्वात्तदभावे चाध-

इनात् । बंधाभावे च भोगः फलं न भवति । नाऽपि तद्विमो
क्षस्तस्य बंधपूर्वेकत्वादिति सकलार्थहानिः स्यात् । भावानाम-
भावे प्रागभावादीनामप्यसंभवात्तेषां भावविशेषणत्वात्स्वतंत्रा-
णामनुपत्तेः । एतेन मीमांसकानां शब्दात्मादिषु भावेषु
नित्येषु प्रतिज्ञायमानेषु विकारहानेः कारकव्यापृतकार्ययुक्तिः
अत्याख्याता, तन्निवन्धनौ च बंधभोगौ, तद्विमोक्षश्चानंदात्म-
कव्रह्यपदात्रामिरूपः प्रतिज्ञिसः । कथंचिदभेदभेदात्मकत्वे तु
भावानामभ्युपगच्छमाने स्याद्वादाश्रयणं नित्यत्वैकांतविरोध-
प्रातीतिकमवश्यं भावि दुर्निवारं इति समंतदोषमन्यदीयमन्येषां
वैशेषिकनीयायिकानां मीमांसकानाऽचेदमन्यदीयमिति प्रति-
पत्तच्यम् । अथवा कापिलानां मतमन्यदीयं समन्तदोषमिति
व्याख्यायते समन्तात् देशकालपुरुषविशेषापेक्षयाऽपि सर्वतः
प्रत्यक्षानुगेयागमगम्येषु सर्वेषु स्थानेषु सर्वत इति ग्राह्यं सम-
न्तात् दोषो बाधकं प्रमाणं यस्मिंस्तसमन्तदोषं, तच्चान्यदीयं
मतं न त्वदीयमिति भावः । कथं तत्समन्तदोषमित्युच्यते ?
यस्माद्भावेषु नित्येषु निरतिशयेषु पुरुषेषु सांख्यैरभिमतेषु
निर्विकारस्य पुरुषार्थप्रधानप्रदृच्छिविक्रियालक्षणस्य हानिः प्र-
सज्यते । स हि प्रधानस्य विकारो महदादिः पुरुषार्थो भवतु,
पुरुषस्य कंचिदुपकारं करोति वा न वा ? यदि करोति तदा
पुरुषादनर्थन्तरमर्थान्तरं वा । ततोऽनर्थान्तरं चेत्, तमेव क-
रोतीति कार्यत्वप्रसंगात् पुंसो नित्यत्वविरोधः । ततोऽर्थान्तरं
चेत्र तस्य किञ्चित्कुतं स्यादिति कथं पुरुषार्थः प्रकृतेर्विकारः

स्थात् । प्रहृतिकृतविकारोपकारेण पुरुषस्योपकारान्तरकरणोऽ-
नवस्थापनसंगात् । ननु च न पुरुषस्योपकारकरणान्महदादिः पुरु-
षार्थोऽभिधीयते सांख्यैर्नापि पुरुषेण तस्योपकारसंपादनात्
सर्वथा तस्योदासीनत्वात् । किं तर्हि पुरुषेण दर्शनात् पुरु-
षार्थः विषयते । पुरुषभोग्यत्वादिति केचित्, तेऽपि न परीक्ष-
काः सर्वथोदासीनस्य पुरुषस्य भोक्तृत्वविराधात् दृश्यस्य भोग्य-
त्वायोगात् । ननु च वीतरागसर्वज्ञदर्शनवत् पुंसो विषय-
दर्शनं भोगः, स च शुद्धस्यात्मनः संभवत्येव रागादिमलाभा-
वात् । तद्विषयस्य च भोग्यत्वं निर्विषयस्य भोगासंभवात्तः
सर्वथोदासीनस्यापि भोक्तृत्वं न विरुद्ध्यते इति चेत् न, परि-
णामित्वप्रसंगात् स्याद्वादिनः सर्वज्ञवत्, स हि सर्वज्ञः पूर्वोच्च-
रस्वभावत्यगोत्यादनाभ्यामवस्थितस्वभावः परिणाम्येव सर्वा-
र्थान्विषयति नान्यथा, प्रतिसमयं दृश्यस्य परिणामित्वे द्रष्टुरप-
रिणामानुषपचेन चायं दृश्यमर्थपरिणामिनं वक्तुं समर्थः स्वयं
तस्य परिणामित्वोपगमात् सिद्धांतपरित्यागानुषंगात् । चि-
त्तक्तिरपरिणामिन्येति चेत्, नादशीतविषयत्वत्यागेन दर्शित-
विषयत्वोपादानादवस्थिताया एव तस्याः परिणामित्वसिद्धेः ।
एतेनाप्रतिसंक्रमत्वादपरिणामिनी चेतनेति प्रत्युक्तं । प्रति-
विषयं दर्शितविषयत्वे संक्रमात् तथा बुद्धेरेव प्रतिसंक्रमो न तु
चित्तक्तेरिति चेत्, न बुद्धेरप्यप्रतिसंक्रमसंगात् विषयस्यैव
प्रतिसंक्रमप्रसंगात्, बुद्धचावसीयमानस्य विषयस्य । प्रतिसंक्रमे
बुद्धेः कथमप्रतिसंक्रम इति चेत्, तर्हि बुद्धेः प्रतिदर्शि-

कायाः प्रतिसंक्रमे तद्विषयस्य चितिशक्तिः कथमप्रतिसंक्रमेति चिन्त्यं, यथैव हि विषयं प्रतिनियतं दर्शयन्ती बुद्धिशक्तिशक्तये संक्रामति तथा क्रमेण चितिशक्तिरपि पश्यन्ती विशेषाभावात् कथमन्यथा क्रमेण दर्शितविषया स्यात् । चिच्छक्तिरप्रतिसंक्रमैव सर्वदा शुद्धत्वादिति चेत्, न शुद्धात्मनोऽपि स्वशुद्धपरिणामं प्रतिसंक्रमणाविगोधात्तत्राशुद्धपरिणामसंक्रमस्यैवासंभवात् । शुद्धपरिणामेन पि चितिशक्तिरप्रतिसंक्रमानंतत्वादिति चेत्, न प्रकृतया व्यभिचारात् । माऽपि हनन्तासांतन्वेऽपि नित्यत्वविरोधात् । प्रकृतेर्पदादिपरिणामसङ्घावाप्रतिसंक्रमः लिङ्घयेत् पुनश्चिच्छक्तेरपरिणामित्यादिति चेत्, न तस्या अपि दृश्यदर्शनपरिणामसङ्घावसिद्धेः । एतेन चिच्छक्तेरप्रतिसंक्रमे साध्ये परिणामरहितत्वे सत्यनंतत्वादिति हेतोरसिद्धत्वं व्यवस्थापितम् ।

स्यान्मतं, चिच्छक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा शुद्धत्वे सत्यनंतत्वात्परसंग्रहविषयसत्तावदिति । तदप्यसत् । सत्ताया गुणीभूतपरिणामसंक्रमाया एव परसंग्रहविषयायाः स्याद्वादिभिर्भीष्टत्वात् माध्यसमत्वादुदाहरणस्य । न हि निराकृतपरिणामसंक्रमं किञ्चिद् द्रव्यं द्रव्यार्थिकनयं प्रत्यापयति दुर्नयत्वप्रसंगात् ब्रह्मवादवत् । नाऽपि स्वपरिणामभिज्ञमुपचरितपरिणामसंक्रममुररीक्रियते, यतस्तदुदाहरणीकृत्य चिच्छक्तिस्तथाविधा साध्येति । ननु च परेषां दृश्यत्वं द्रष्टुरत्यंतभेदात् दृश्ये परिणामिनि प्रतिसंक्रमो द्रष्टुरिति चिच्छक्तिलक्षणे शुद्धात्मनि उप-

वर्यते तयोः संसर्गश्चेतनस्य दर्शितविषयस्वोपगमात् ततो न परमार्थतो परिणामप्रतिसंक्रमं नं प्रानिषेद्युभुचितपिति चैत् तर्हि दर्शितविषयत्वम्यो चरितत्वे दर्शनमनुपचरितमात्मनः प्रसज्जयेत्, अथ दर्श भेदस्तत्रोपचरित एव भिन्नस्य दर्शनस्य हाशीशाक्तिरूपस्य वास्तवत्वः दिति मतं तदपि न सम्यक् । हाशीशक्तेः स्वभावभेदमन्तरेण नानाविधदृश्यदर्शनविरोधात् तदर्शितविषयस्वभ वर्षेदस्य पारमार्थिकस्यैव सिद्धेः ।

स्वतन्मतं चिन्छक्तेरेक एवाभिन्नः स्वभावोऽभ्युपगम्यतेऽस्पाभिर्येन यो यदा यत्र यथा दृश्यपरिणामो बुद्ध्याध्यवसीयते तं तदा तत्र तथा पश्यत्ता दर्शितविषयत्वेषितस्याः प्रतिविषयं न स्वभावभेद इति । तदप्यसंभाव्यं, तथा बुद्धेष्येव स्वभावत्वप्रसंगात् । शब्दं हि वक्तुं बुद्धेरेक एव क्रमभाव्यनेकविषयव्यवसायस्वभावो येन यथाकालं यथादेशं यथाप्रकारं च विषयप्रैश्यवस्थतीति न किञ्चिदनेकस्वभावं सिद्धेत्तर्थेन्द्रियपर्यन्तेऽहंकारणात् पि विषयलोचनसंकल्पनाभिपननैकस्वभावत्वप्रसंगात् । तन्मात्रभूतानामपि नानास्वकार्यकरणैकस्वभावत्वोपपत्तेः । वस्यचिदनेकशोऽनेककार्यहेतोरनेककियाशाक्तिस्वभावत्वेचि च्छक्तेरपि नानादृश्यदर्शनकियस्वभावनानात्मं कथमपाक्रियेन । तथा च न चिन्छुदितर्निरतिशयैकनित्यस्वभावाऽसिद्धति तत्र दर्शितविषया यतस्तदर्थो बहुधाऽनेकविकारो महदादिः स्यादिति नित्येषु भावेषु प्रकृतिषुरुषेषु विकारहानिः सिद्धा । विकारहानेश्च न कारकव्यापृतकार्ययुक्तिः । करोति

इति कारकं कर्तृप्रधानं तस्य व्यापृतं व्यापारः, कार्यं महदादि
व्यवतं, युक्तिर्थोगः संबंधः संसर्गः कारकव्यापृतं च कार्यं च
ताभ्यां युक्तिः पुरुषस्य संसर्गो न स्यात् । तथा कारकत्वेनाभि-
मतं प्रधानं न महदादिकार्यकारि निव्यापारत्वात् पुरुषवत् ।
निव्यापारं तत् सर्वथाविक्रियाशून्यत्वात् तद्रूपं । विकाररहितं
प्रधानं नित्यत्वादात्मवर्दिति न कारकव्यापृतकार्ययोर्ब्यवस्था ।
तदभावे च न ताभ्यां युक्तिः पुरुषस्य सिद्धयेत्, तदसिद्धौ
च न बंधभोगौ स्यातां मुक्तात्मवत्, प्रधानव्यापारकार्ययोगे
हि न धर्माधर्माभ्यां प्रकृतेर्विधः संभवति, तदसंभवे च न तत्कलं
सुखदुःखं यस्य भोगो दर्शनं पुरुषस्य स्यात्तदभावे न तद्विभ-
मोक्षः प्रधानस्य सिद्धयेद्विभावे मोक्षानुपपत्तेः, वंघपूर्वकत्वा-
दिमोक्षस्येति समंतदोषं मतमन्यदीयं सिद्धम् । “स्यान्मतं
नित्येष्वप्यात्मादिषु भावेषु स्वभावत एव विकारः सिद्धयेत्
ततः कारकव्यापारः कार्यं च तद्युक्तिश्चोपयद्यते इति सकल-
दोषासंभव एवेति तदपि न परीक्षाज्ञमपित्याहुः—

अहेतुकत्वं प्रथितः स्वभाव-

स्तस्मिन् क्रियाकारकविभ्रमः स्यात् ।

आवालसिद्धेर्विविधार्थसिद्धि-

र्वादान्तरं किं तदसूयतां ते ॥ ९ ॥

शीका—स्वभाववादी तावदेवं प्रष्टव्यः—किमयं स्वभावो
निहेतुकत्वं प्रथितः? किम्बुत आवालसिद्धेर्विविधार्थसिद्धिरिति?

निर्हेतुकत्वं प्रथितः स्वभाव इति चेत्, तर्हि जप्त्युत्पत्तिक्षणायाः क्रियायाः प्रतीयमानाया विभ्रमः स्यात्स्वभावत एव भावानां ज्ञानादाविभावाचान्यथा निर्हेतुकत्वासिद्धेः । क्रिया-विभ्रमे च कारकस्य सकलस्य प्रतिभासमानस्य विभ्रमो भवेत्, क्रियाविशिष्टस्य द्रव्यस्य कारकत्वप्रसिद्धेः क्रियायाः कारकानुपत्तेः । न च क्रियाकारकविभ्रमः स्वभाववादिभिरभ्युपगमतुं युक्तो वादान्तरप्रसंगात् । अस्तु सर्वविभ्रमैकान्तो वादान्तरप्रिति चेत्, तर्हि विभ्रमे किमविभ्रमो विभ्रमो वा स्यात् ? यद्यविभ्रमस्तदा न विभ्रमैकान्तः सिद्ध्येत् तत्राऽपि विभ्रमे सर्वत्राभ्रान्तिसिद्धिः सर्वत्र विभ्रमे विभ्रमस्थ सर्ववास्तव-स्वरूपत्वात् ततो वादान्तरं किं तदसूयतां ते तत्र भगवतः स्याद्वादभानोः असूयतां विद्विषां विभ्रमैकान्तस्यापि वादान्तरस्यासंभवात्र किंचिद्वादान्तरप्रस्तीति वाक्यार्थः । अथ नाहेतुकत्वं प्रथितः स्वभावोऽभ्युपगम्यते किं त्वावालसिद्धेविविधार्थसिद्धिः प्रथितः स्वभाव इति निगद्यते तर्हि सैवावालसिद्धेर्निर्णीतिर्निर्त्यावैकान्तवादाश्रयणे न संभवति यतः सर्वेषामर्थानां कार्याणां कारणानां वा सिद्धिः स्यात् । न च प्रत्यक्षादिप्राणानो विविधार्थसिद्धेग्रसंभवे परेषां पर्यनुयोगे स्वभाववादावलंबनं युक्तप्रतिप्रसंगात् । प्रत्यक्षादिप्रमाणसामर्थ्यात् विविधार्थसिद्धिः स्वभाव इति वचने कथमिव स्वभावैकान्तवादः सिद्ध्येत् । स्वभावस्य स्वभावत एव व्यवस्थितेस्तस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणसामर्थ्यात् व्यवस्थापितत्वात्, वादान्तरं तु किं तत्

तेऽस्युतां स्यात् ? तव सुहृदमेव वादान्तरं सम्यग्नेकांतवा-
दरूपं प्रसिध्येत् न तु तव प्रतिपक्षाणां मिथ्यैकांतवादिना-
मित्यर्थः । किं च नित्यैकःन्तवादिनः किमात्मतत्त्वं देहादनन्य-
देव वदेयुरन्यदेव वा ? प्रथमकल्पनाया संसाराभावः प्रसज्येत्,
देहात्मकस्यात्मनो देहरूपादिकद्वांतरगमनासंभवात्तद्व एव
विनाशप्रसंगात्, नित्यत्वविरोधाद्यार्थाकमताश्रयणप्रसंगथ । स
च प्रमाणविरुद्ध एवात्मतत्त्वादिनोऽनिष्टथ । द्वितीयकल्पनायां
तु देहस्यानुग्रहोपधाताभ्यामात्मनः सुखदुःखे न स्यातां स्वदे-
हादप्यात्मनोऽन्यत्वाभिनिवेशात् देहान्तरवत्, सुखदुःखाभावे
च नेत्याद्वेषौ, तदभावे च धर्माधर्मौ न संभवत इति स्वदेहेऽनु-
रागसद्वादनुयहोपधाताभ्यामात्मनः सुखदुःखे स्वगृहाद्य-
नुग्रहोपधाताभ्यामिव कथमुपपद्यते ।

देहादनन्यत्वान्यत्वाभ्यामवक्तव्यमात्मतत्त्वमभ्युपगच्छतां
शाधकमाहुः—

येषामवक्तव्यमिहात्मतत्त्वं

देहादनन्यत्वपृथक्त्वकृसेः ।

तेषां ज्ञतत्वेऽनवधार्यतत्त्वे

का बंधमोक्षस्थितिरप्रमेये ॥ १० ॥

शीका—न देहादात्मतत्त्वस्यानन्यत्वकल्पसिर्नापि पृथक्त्व-
कल्पस्त्रुतदोषानुषंगात् । किं तर्हि ? देहादनन्यत्वपृथक्त्वकल्प-
नादात्मतत्त्वमवक्तव्यमेवेति येषामभिनिवेशस्तेषां ज्ञतत्त्वं सर्वथाऽ-

नवधार्यतत्त्वं प्रसङ्गते तत्स्वरूपस्यावधारयितुमशक्यत्वात् ।
 देहादनन्यत्वेन पृथक्त्वेन वा तस्यानवधारणे प्रोक्तदोषानु-
 यंगात् तदुभयकल्पनयाप्यनवधार्यतत्त्वस्य प्रसिद्धेरवक्तव्यत्ववत् ।
 तथा च सकलवागिवज्ञानगोचरातिक्रांतमात्मतत्त्वमित्यायातं ।
 तत्र चानवधार्यतत्त्वे ज्ञतत्त्वे का बंधमोक्षस्थितिरपमेये सर्वथा-
 इनवधार्यतत्त्वं ह्यात्मतत्त्वमपमेयमापन् तत्र चाप्रमेये प्रत्यक्षा-
 दिप्रमाणाविषये ज्ञतत्त्वे का बंधमोक्षस्थितिर्वा संभाव्यते बंध्या-
 पुत्रवत् न कारीत्यर्थः ।

तदेवं नित्यैकांतात्मवादिपतं समंतदोषं व्यवस्थाप्य संप्र-
 त्यनित्यात्मवादिपतपि समंतदोषमुपदर्शयितुमारभते-

हेतुर्न हृष्टोऽत्र न चाप्यहृष्टो

योऽयं प्रवादः क्षणिकात्मवादः ।

न ध्वस्तमन्यत्र भवे द्वितीये

संतानाभिन्ने नहि वासनाऽस्ति ॥ ११ ॥

यीका—योऽयं क्षणिकात्मवादः सौगतानां न ध्वस्तं
 चित्तपन्यत्र द्वितीये भवे क्षणे भवेदिति, स प्रवाद एव केवलः
 प्रमाणशून्यो वादः प्रवादः प्रलाप इत्यर्थः । कुत एतत्, योऽत्र
 क्षणिकात्मवादे हेतुज्ञापकः कथित्वा विद्यते ‘यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं’
 यथा शब्दविद्युदादिः संश्व स्वात्मेति स्वभावहेतुज्ञापकोऽस्येवेति
 चेत्, स तर्हि स्वयं प्रतिपत्रा हृष्टो वा स्यादहृष्टो वा ? न तावत्
 हृष्टः संभवति, तस्य दर्शनानन्तरमेव विनाशादनुभानकालैऽ-

प्यभावात् तदनुमातुंश्च चित्तविशेषलिंगदर्शनोऽसंभवात् ।
 न चाऽप्यद्वष्टो हेतुः कल्पनारोपितः संभवति तत्कल्पनाया अपि
 अनुमानकाले विनाशात् । व्यासिग्रहणकाललिंगदर्शनविशेष-
 विनाशेपि तद्वासनासद्वावात् अनुमानकाललिंगदर्शनप्रबुद्धवा-
 सनासामर्थ्यादनुमानं प्रवर्त्तत एवेति चायुक्तं हेतुहेतुमद्वाव-
 व्यासिग्राहित्वादनुमात्रचित्ते संतानाभिन्ने वासनानुपत्तेः
 सन्तानभिन्नमिव सन्तानभिन्नं चित्तं तस्मिन्न हि वासनाऽस्ति,
 जिनदत्तदेवदत्तसंतानभिन्नेपि चित्ते वासनास्तित्वासुषंगात् ।
 देवदत्तचित्तेन माध्यसाधनव्याप्तौ गृहीतायां जिनदत्तस्य तत्सा-
 धनदर्शनात् साध्यानुमानमासज्येताविशेषात् । तथा च वासना-
 नास्ति संतानभिन्ने चित्ते तथा न तत्कारणकार्यभावः संभव-
 तीति क्रियाध्याहारः । संतानभिन्नयोरपि चित्तयोः कार्यकार-
 णभावे देवदत्तजिनदत्तचित्तयोरपि कारणकार्यभावः प्रवर्त्तते ।
 सामान्यरूपाणामेव चित्तक्षणानामेकसंतानवर्तिनां कार्यका-
 रणभावो न तु भिन्नसन्तानवर्त्तिनामसमानरूपाणामिति चेत्,
 न तर्हि चित्तक्षणाः क्षणविनधरा निरन्वयाः केन समानरूपाः ?
 न केनापि स्वभावेन ते समानरूपा इत्यर्थः । तथाहि—यदि
 तावत् सत्स्वभावेन चित्स्वभावेन वा समानरूपाः स्युस्तदा भि-
 न्नसंतानवर्तिनोऽपि तथा भवेयुरविशेषात् । यदि पुनरतदेतुभ्यः
 संतानान्तरवर्त्तिभ्यश्चित्तक्षणेभ्यो व्याप्त्वेन तदेत्वपेक्षित्वेन समा-
 नरूपाः केचिदेवैकसंतानवर्त्तिनश्चित्तक्षणाः इष्यन्ते पूर्वपूर्वस्यो-

१ 'तदनुमातुः स्वचित्तविशेषस्य' इति पुस्तकांतरे ।

पादानहेत्वपेक्षित्वा दुर्तरोच्चरचित्तास्येति मतं तदापि तदुच्चरं
चित्तमुत्पन्नं सत्स्वहेतुपेक्षते ऽनुत्पन्नमसदा । न तावत् प्रथमः
पक्षः । सतः सर्वनिराशं सन्धादुत्पन्नस्य हेत्वपेक्षत्वविरोधात् ।
द्वितीयपक्षे त्वसत्त्वपुष्टं न हि हेत्वपेक्षं दृष्टं । एतदुक्तं भवति,
यदसत् तन्न हेत्वपेक्षं दृष्टं यथा खपुष्टं असञ्चोत्पत्तेः पूर्वं कार्य-
चित्तमिति ततो न सिध्यत्युभयोरसिद्धं । न हि किञ्चिदसदपि
हेत्वपेक्षं वादिप्रतिवादिनोरुभयोः सिद्धमस्ति । यन्निर्दर्श-
नीकृत्योच्चरमुत्तरं चित्तमनुत्पन्नमपि तदेत्वपेक्षं साध्यते
तदसाधने च कथं तदेत्वपेक्षत्वेनापि समानरूपाश्चित्तक्षणाः
केचिदैवैकसंतानभाजः सिद्धेयुर्यतः कारणकार्यभावस्तेषाः
मुपादानोपादेयलक्षणाः स्यात्, वास्यवासकभावहेतुरिति न
तत्र वासना संभवति भिन्नसंतानचित्तक्षणवत्, ततः सूक्तं
मारिभिरिदम्—

तथा न तत्कारणकार्यभावा

निरन्वयाः केन समानरूपाः ।

असत् खपुष्टं न हि हेत्वपेक्षं

दृष्टं न सिध्यत्युभयोरसिद्धम् ॥ १२ ॥

श्रीका—खंडशोऽस्य व्याख्यानात् ।

यथा च हेतोरपेक्षके फलचित्तमसन्न घटते तथा हेतुरपि
फलचित्तस्यापेक्षणीयो न संभवत्येवेत्याहुः—

नैवास्ति हेतुः क्षणिकात्मवादे

न सन्नसन्वा विभवादकस्मात् । नाशोदयैकक्षणता च हृष्टा संतानभिन्नक्षणयोरभावात् ॥ १३ ॥

टीका—अभ्युपगम्येदमुक्तं—कार्यचित्तं सद्गुणमसद्गुणं वा न हेत्वपेक्षमिति परमार्थस्तु क्षणिकात्मवादे हेतुनैवाऽस्ति । स हि सन्वा हेतुः स्यादसन्वा ? न तावस्तस्त्रेव पूर्वचित्तक्षण उत्तरचित्तक्षणस्य हेतुर्भवति विभवाद्विभवप्रसंगादित्यर्थः । सत्येकक्षणे चित्ते चित्तान्तरस्योत्पत्तौ तत्कार्यस्यापि तदैवोत्पत्तिरिति सकलचित्तचैत्तक्षणानामेकक्षणवर्त्तित्वोत्पत्तौ युगपत्सकलजगदव्यापिचित्तप्रकारसिद्धेर्विभुत्वमेव क्षणिकं कथमिव निवार्येत । पूर्वं पश्चाच्च चित्तशून्यं जगदापनीपद्येत तथा च संताननिर्वाणलक्षणे मोक्षो विभवः सर्वस्यानुपायसिद्धः स्यात् । अर्थैतदोपभयादसन्नेव हेतुर्भवति ब्रूयात् तदाप्यकस्मात्कारणपंतरेण कार्योत्पत्तिप्रसंगस्ततोऽसन्नपि न हेतुः संभवति ।

स्यान्मतं—यस्य नाश एव कार्योत्पदः स तद्देतुर्नाशोदययोरेकक्षणतोपपत्तेः, कारणनाशानंतरं कार्यस्योदयस्यानिष्टरकस्मात्कार्योदयप्रसंगादिति चेत्, तदप्यसत् । यतो नाशोदयैकक्षणतायाः संतानभिन्नक्षणयोरभावात्, भिन्नौ च तौ क्षणौ च भिन्नक्षणौ कालव्यवहितौ संतानस्य भिन्नक्षणौ संतानभिन्नक्षणौ तयोः सुपुसंताने जाग्रचित्तप्रबुद्धचित्तक्षणयोरभावान्नाशोदयैकक्षणतायाइति विभक्तिपरिणामः ।

न हि तत्र जाग्रचिन्तस्य नाशकाल एव प्रबुद्धचिन्तस्योदयोऽस्ति मुहूर्तादिकालेनानेकक्षणेन व्यवधानात्तथा च जाग्रचिन्तं प्रबुद्धचिन्तस्य हेतुर्न स्यात् तन्नाशस्यैव प्रबुद्धचिन्तोदयत्वाभावात् जाग्रचिन्तप्रबुद्धचिन्तनाशोदययोरेकक्षणतापायात् । अथवा संताने प्रदीपादेनिरन्वयनाशिनि नाशोदययोरेकक्षणतापाया असंभवात् भिन्नक्षणतेति व्याख्येयं ततोऽसत्येव हेतौ कालान्तरेण सत्यमुत्पद्यमानोऽर्थः प्रलय इवाकस्मिकः स्यात् । तत्र चेदं दूषणमावेदयन्ति सूरयः—

कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगौ

स्यातामसंचेतितकर्म च स्यात् ।

आकस्मिकेऽर्थे प्रलयस्वभावो

मागो न युक्तो वधकश्च न स्यात् ॥ १४ ॥

दीक्षा—यथा कारणमन्तरेणैव भवन्प्रलयः स्यादाकस्मिकः सौगतस्य तथा कार्योदयोऽपीति प्रलयस्वभावोऽर्थः प्रमाणबलादायातः परिहर्त्तुपशक्यत्वाशस्मिन्नाकस्मिकेऽर्थे प्रलयस्वभावे युक्त्या पूर्वचित्तेन कृतं कर्म शुभमशुर्भं वा तस्य तत्फलभोगाभावात् कृतप्रणाशः स्यात्तदुरभाविना च चित्तेनाकृतस्यैव कर्मणो भोगः स्यादेकस्य कर्मणां कर्तुस्तत्कलभोक्तुश्चावस्थितस्याभावादिति कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगौ स्यातां । तथा येन चित्तेन संचेतितं कर्म तस्य निरन्वयप्रलयात् येना-

^१ ‘तदन्यानु’ इति पुस्तकांतरे ।

संचेतितमुन्नरचिचेन तस्यैव कर्म भवेदित्यतोऽसंचेतितं च कर्म स्यात् । तथा च सकलास्त्रवनिरोश्लक्षणमोक्षस्य विचासंतति-नाशरूपस्य वा शांतनिर्वाणस्य मार्गे हेतुनैरात्म्यभावनालक्षणो न युक्तः स्यान्नाशकस्य कस्यचिद्विरोधात् । तथा कर्यचित्प्राणिनः कश्चिद्वयकोऽपि न स्यात्तद्रघकस्य प्रलयस्वभावस्या-कस्मिकत्वात् ।

किञ्चान्यतस्यादित्याचार्या व्याचक्षते—
न बन्धमोक्षौ क्षणिकैकसंस्थौ
न संबृतिः साऽपि मृषास्वभावा ।
मुख्याद्वृते गौणविधिर्न दृष्टे
विभ्रान्तदृष्टिस्तव दृष्टितोऽन्या ॥ १५ ॥

शीका—क्षणिकमेकं यज्ज्वित्तं तत्संस्थौ बंधमोक्षौ न स्यातां । यस्य चित्तस्य बंधस्तस्य निरन्वयप्रणाशात्तदुत्तरचित्तस्या-बद्धस्यैव मोक्षप्रसंगात् । यस्यैव बन्धस्तस्यैव मोक्ष इत्येक-चित्तसंस्थौ बंधमोक्षौ संबृत्या तदेकत्वारोपविकल्पलक्षणाया स्यातामिति चेत्तर्हि सापि संबृतिर्मृषास्वभावा स्यात् गौण-विधिर्वा ? तत्र तात्त्वं संबृतिः मृषास्वभावा बंधमोक्षयोः लक्षणिकैकचित्तसंस्थयोः मृषात्वप्रसक्तेः । गौणविधिरेत संबृति-रिति चेत्, तर्हि मुख्यौ बंधमोक्षौ कचिज्जित्ते संतिष्ठमानौ प्रतिपत्तिर्व्यौ यतो मुख्याद्वृते गौणविधिर्न दृष्टः पुरुषसिद्धवत् । न हि मुख्यसिंहाद्वृते गौणस्य पुरुषे सिंहविधिर्दर्शनप्रस्ति ।

तदेवं विभ्रान्तदृष्टिस्तव दृष्टितोऽन्या, तत्र वीरस्य स्याद्वादा-
मृतसमुद्रस्य या दृष्टिरबाधिता ततोऽन्या ज्ञानिकात्मवादिह-
ृष्टिर्विभ्रान्तदृष्टिरेव समंतदोषत्वादिति मूररभिप्रायः ।

तमेवाहुः—

प्रतिक्षणं भंगिषु तत्पृथक्त्वा—

न मातृघाती स्वपतिः स्वजाया ।
दत्तग्रहो नाधिगतस्मृतिर्ने

न क्त्वार्थसत्यं न कुलं न जातिः ॥१६॥

टीका—क्षणं क्षणं प्रति भंगवत्सु पदार्थेषु प्रतिज्ञाय-
मानेषु न मातृघाती कश्चित्पुत्रोत्पत्तिक्षणा एव मातुः स्वयं नाशात्
तदनन्तरे क्षणे पुत्रस्यापि प्रलयादपुत्रधैव प्रादुर्भावात् । लोकव्य-
वहारतो मातरं दूरतरं हन्तुं प्रवृत्तोऽपि न मातृघाती भवेदि-
त्यर्थः । तथा न स्वपतिः कुलयोषितोऽपि कश्चित्स्यात्
तद्वोहुः पत्युर्विनाशादन्यस्योत्पादात् । तदूदाया योषितश्च विना-
शात् तदन्यस्या एवोत्पादात्पारदारिकत्वप्रसंग इत्यर्थः । तथा
स्वजायाऽपि न स्यात् । तत्र एव तथा दत्तग्रहो न स्यात्-धनि-
ना दत्तस्य धनस्याधमण्डात् यहणं न स्यात् दातुनिरन्वयनाश द-
धमण्डस्याप्यन्यस्य प्रादुर्भावात् साज्ञिलिखितादेरपि परिध्वं-
सादित्यर्थः । तथाऽधिगतस्य शास्त्रार्थस्य स्मृतिरपि न स्यादिति
शास्त्राभ्यासस्य वैफल्यमासज्येत । तथा न क्त्वार्थसत्यं पूर्वो-
त्तरक्रिययोरेककर्तुक्योः पूर्वकाले क्त्वार्थसत्येन परमार्थेन प्रमा-

योपपन्नेन न्यायेन कत्वार्थश्च सत्यं च कत्वार्थसत्यं “राजदंतादिषु परं” इति सत्यपदस्य परनिपातः, तदपि प्रतिक्षणं भंगिषु विषय-विषयिषु नोपयेत् । तथा न कुलं सूर्यवंशादिकं भवेत् क्षत्रियस्य, यत्र कुलेऽसौ जातस्तस्य निरन्वयविनाशात् तज्जन्मनि कुलाभावात् । तथा न जातिः क्षत्रियत्वादिः तदव्यक्तिव्यतिरेकेण तदसंभवात् । अनेकव्यक्तेरतदव्याघृत्तिग्राहिणश्चित्स्यैकस्यासंभवात् तदन्यापोहलक्षणायाश्च जातेरनुपपत्तेः ।

किञ्च-

न शास्तृशिष्यादिविधिव्यवस्था
विकल्पबुद्धिर्वितथाऽखिला चेत् ।
अतत्वतत्वादिविकल्पमोहे

निमज्जतां वीतविकल्पधीः का ॥ १७ ॥

टीका—शास्ता सुग्रातः शिष्यस्तद्विनेयस्तयोर्विधिः स्वभावस्तस्य व्यवस्था विशेषेणान्यव्यवच्छेदेनावस्था सापि न स्यात्, प्रतिक्षणं भंगिषु चितेभ्विति सम्बन्धनीयम् । तत्त्वदर्शनं परानुग्रहतत्त्वप्रतिपिपादयिषा तत्त्वप्रतिपादनकालव्यापिनः कस्यचिदेकस्य शासकस्यानुपपत्तेः । शिष्यस्य च शासनशुश्रूषा-श्रवणग्रहणाधारणाभ्यासनादिकालव्यापिनः स्यचिद्यथनात् । अयं शास्ताऽहं शिष्य इति प्रतिपत्तेः कस्यचिदयोगात् । तथादिशब्देन स्वामिभूत्यविधिव्यवस्था जनकतनयविधिव्यवस्था नप्तुपितामहादिविधिव्यवस्था च न स्यादिति ग्राह्यं । ननु च वहिरन्त-

इच प्रतिक्षणं विनश्वरेषु स्वलक्षणेषु परमार्थतो मातृप्रातीत्यादि-
शास्त्राशिष्यादिविधिव्यवस्थाव्यवहारो न संभवति किं तर्हि? वि-
कल्पबुद्धिरियमखिलानादिवासनासमुद्भूता मातृधत्यादिव्य-
वस्थाहेतुर्वितर्यैव सर्वनिर्विषयत्वादिति यद्यभिमन्यंते सौमगतास्त-
दा तेषामतत्त्वतत्त्वादिविकल्पमोहे निपज्जतां का नाम वीतविकल्प-
धीर्थवती तथा कथ्येत । मातृप्रातीत्यादिसकलमतत्त्वमेव ततोऽ-
न्यनु तत्त्वं इति व्यवमिथतेरपि विकल्पवासनावलायातत्वात्संबृ-
तिरतत्त्वं परमार्थतस्तद् मित्यपि विकल्पशिल्पटितमेव स्यात् ।
ननु वस्तुवलादिति विकल्पमोहो महाभोधिरिव दुष्पारः
प्रसञ्जयेत । “द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना । लोक-
संवृत्तिसत्यं च परमार्थतः” इत्येतस्यापि विभागस्य विकल्प-
मात्रत्वात्ताच्चिकत्वानुपपत्तेः । वीतसकलविकल्पा धीः स्वलक्ष-
णमात्रविषया ताच्चिकीत्थपि न संभाव्यं तस्याश्चतुर्विधाया
इन्द्रियमानसस्वसंवेदनयोगिप्रत्यक्षलक्षणायाः परमार्थतो व्य-
वस्थापयितुपशक्तेः । “प्रत्यक्षं कल्पनापोदयभ्रान्त” मिति
प्रत्यक्षसामान्यलक्षणस्य प्रत्यक्षविशेषलक्षणस्य च विकल्प-
मात्रत्वादवास्तवत्वोपपत्तेः । न चावास्तवं लक्षणं वस्तुभूतं लक्ष्यं
उक्तयितुपलमपतिपंसंगादिति किं केन लक्ष्येत ।

अत्रापरे प्राहुः—न वहिः स्वलक्षणालंबनकल्पनाविकला
काचिद्बुद्धिरस्ति सर्वस्या बुद्धेरालंबने भ्रान्तत्वात् स्वप्नबु-
द्धिवत् स्वांशमात्ररूपपर्यवसितत्वाद्विज्ञानमात्रस्यैव तस्य प्रसिद्धे-
रिति । सोऽप्येवं प्रष्टः स्पष्टमाचष्टां—विज्ञानमात्रस्य सिद्धिः

स साधना निःसाधना वा ? स साधना चेत्साध्यसाधनबुद्धिः
सिद्धा । सा चानर्थिकाऽर्थवती वा स्यात् ? प्रथमपक्षे द्वितीय-
पक्षे च दूषणान्यभिदधते सूरयः—

अनर्थिका साधनसाध्यधीश्च-

द्विज्ञानमात्रस्य न हेतुसिद्धिः ।

अथार्थवत्त्वं व्यभिचारदोषो

न योगिगम्यं परवादिसिद्धम् ॥१८॥

टीका—विज्ञानपात्रं हि तत्त्वं परवादिनोऽनुमानादेव
प्रत्याययेयुः स्वस्वेदनप्रत्यक्षेण तेषां प्रत्याययितुमशक्तेः ।
तच्चानुमानं-यत्प्रतिभासते तद्विज्ञानपात्रमेव यथा विज्ञानस्वरूपं
प्रतिभासते च नीऋसुखादिकमिति । न चाविज्ञानं प्रतिभासते
जडस्य प्रतिभासायोगादिति ५क्षे बाधकप्रमाणमनुमानसमर्थन
मप्रसर्थितस्यासाधनत्वादिति । तत्रेदमनुमानं साधनं विज्ञानपात्रं
साध्यमिति साध्यसाधनधीर्यद्वनर्थिका तदा विज्ञानपात्रस्य तत्त्व-
स्य यो हेतुः साधनं तस्य सिद्धिर्न स्यात्स्वप्नोपालंभसाधनवत् ।
अथार्थवत्त्वमेव तस्याः साध्यसाधनबुद्धेस्तदाऽनयैव व्यभिचारः
प्रकृतहेतोः सर्वं ज्ञानं निरालंबनं ज्ञानत्वादित्येतत्परं प्रति वक्तुं
शुक्तं न स्यात् स च महान् दोषः परिहर्तुमशक्यत्वात् । यथै-
व हीदमनुमानज्ञानं स्वसाध्येनावलंबनेन सालंबनं तथा
विवादाध्यासितमपि ज्ञानं सालंबनं किं न भवेदिति
संशयकरत्वात् । यदापि विज्ञानपात्रं सर्वस्य वस्तुनः प्रतिभा-

समानत्वेन हेतुना साध्यते, तदापीदपञ्चानं वचनात्मकं परार्थप्रतिभासमानपि न विज्ञानपात्रं ततोऽन्यत्वादिति व्यभिचारदोषः प्रकृतहेतोः स्यादेव । साध्ये विज्ञानपात्रात्मकत्वे साधनस्य साध्यतपत्वानुपंगात्तत एव समाध्यवस्थायां प्रतिभासमानं संवेदनाद्वैतं तत्त्वमन्तु स्वरूपस्य स्वतोगतेरिति च न सुभाषितं तस्य परवादिनामसिद्धत्वात् ।

न हि योगिनो गम्यं परवादिनां सिद्धं नामेति स्वगृहमान्यमेवत् । किं चेदं संवेदनाद्वैतं नानासंवेदनवत् न स्वस्य सिद्धं न च परस्मै प्रतिपाद्यमिति निवेदयन्ति ।

तत्त्वं विशुद्धं सकलैर्विकल्पै—

र्विश्वाभिलापास्पदतामतीतम् ।

न स्वस्य वेद्यं न च तन्निगद्यं

सुषुप्त्यवस्थं भवदुक्तिबाह्यम् ॥ १९ ॥

टीका—कार्यकारणग्राह्यग्राहकवास्थवासकसाध्यसाधनवाद्यबाधकवाच्यवाचकभावादिविकल्पैः सकलैर्विशुद्धं शुन्यं तद्विज्ञानाद्वैतं तत्त्वं न स्वस्य वेद्यं । संहृतसकलविकल्पावस्थायामपि योगिनो ग्राह्यग्राहकाकारविकल्पात्मनः संवेदनस्य प्रतिभासनात् नापि तं निगदितुं शक्यं । विश्वाभिलापास्पदतामतीतत्वादू विश्वे च तेऽभिलापाश्च विश्वाभिलापा विश्वाभिलापा जातिगुणद्वयक्रियायद्वच्छा शब्दास्तेषामास्पदमाश्रयो विश्वाभिलापास्पदं तस्य भावो विश्वाभिलापास्पदता तामतीतं तत्त्वं कथमिव निगद्यं परस्मै

स्यात् । न हि जात्यादिशब्दे स्तम्भिगद्यते जातिद्रव्यगुणक्रियादि-
कलानाभिरपि शून्यत्वात् नापि यद्यच्चशब्देन तत्र तस्य संकेत-
यितुमशक्तेः संकेतहेतुविकल्पेनाऽपि शून्यत्वादिति सुषुप्तौ
याऽवस्था संवेदनस्य सा स्पात्तत्त्वस्थ । ततः सुषुप्त्यवस्थमेतत्
सर्वथा विकल्पाभिलापशून्यत्वाऽयुधगमाद्वदुक्तिवाहं भवतो
वीरत्योक्तिः स्याद्वादस्ततो वाहं सर्वथैकान्ततत्त्वभित्युच्यते ।
विज्ञानार्थपर्यायादेशाद्विविज्ञानार्थतत्त्वं सकलविकल्पाभिला-
पविकलमृजुस्त्रनयावलंबिभिन्न्यते व्यवहारनयाश्रयिभिर्विकल-
पाभिलापास्पदमिति स्याद्वादश्रयणे तत्त्वं न भवदुक्ति-
तो वाहं स्यादित्यर्थाद्वम्बते ।

पुनरपि परमतमनूद्य दृष्टियुपाहुगचार्याः—

मूकात्मसंवेद्यवदात्मवेद्यं,

तन्मिलष्टभाषाप्रतिमप्रलापम् ।

अनंगसंज्ञं तदवेद्यमन्यैः

स्यात्, त्वदुद्धिषां वाच्यमवाच्यतत्त्वम्॥२०॥

टीका—यथा मूकस्यात्मसंवेद्यं स्वसंवेदनं तथात्मसंवेद्यमेव
संविदद्वैतं न च त्मसंवेद्यमिति शब्देनाऽपि तत्त्वमभिलाप्यते
तत् कुतो यतो मिलष्टा अस्पष्टा भाषा मूकभाषेव तत्प्रतिमः
प्रलापो निरर्थको यस्मिस्तन्मिलष्टभाषाप्रतिमप्रलापं न पुनर-
भिलाप्य ततस्तदवेद्यमेवान्यैः प्रतिपाद्यरिति मन्यंते केचित् ।
यथा चाभिलापास्तदवेद्यमन्यैस्तथांगसंज्ञयाऽपि सूचीहस्तलभ-

गण्याऽनवेद्यमनंगसंज्ञत्वात् । यद्दि सर्वथाऽनभिलाप्यं तत्रांग-
संज्ञासंकेतोऽपि न प्रवर्तते । न चासंकेतितांगसंज्ञा क्वचिद्वित्ति-
निमित्तं शब्दवदिति च ये प्रनिष्ठयन्ते तेषां त्वद्वित्तिं संविद्दै-
तवादिनामवाच्यमेव तत्क्षं वाच्यं स्यात्, नैव स्यादिति काङ्का-
ल्याख्यातव्यम् तेषां मौनमेव शरणं स्यादिति यावत् ।

तदेवं सौगतमत्पुष्पहासास्पदमेवेति निवेदयन्ति—

अशासदञ्जांसि वचांसि शास्ता,

शिष्याश्च शिष्टा वचनैर्न ते तैः ।

अहो हृदं दुर्गतमं तमोऽन्यत्

त्वया विना श्रायसमार्य किं तत् ॥२१॥

थीरा—शास्ता सुगत एवाशासदनवशानि वचांसि यथा-
र्थदर्शनादिगुणयुक्तत्वान्न च तैर्वचनैः शिष्यास्ते प्रतिपादिता
इतीदमहो दुर्गतमं साश्र्वयमन्यतयः स्यात् कुच्छ्रतमेनाधिगम्य-
त्वात् । तत्वानुशासनं हि सति शास्तरि गुणवति प्रतिषये-
भ्यस्तत्त्वप्रतिपश्यियोगेभ्यः सत्यैरेव वचनैः प्रसिद्धं । तत्र सु-
गते शास्तरि प्रसिद्धेषि मौगतानां तद्वचनेषु च सत्येषु संभवत्तु
शिष्याः सन्तोऽपि प्रशिदितमनसो न शिष्टा इति कथमपोदः
प्रतिषयेतेति प्रेक्षावतामुपहासास्पदमिदं दर्शनमाभासते ।

स्पग्नमतं—संवृत्या शाम्भुशिष्यशासनतदुपायवचनसङ्घा-
वान्नोपहासास्पदमेतत्परमार्यतः संनिद्वैतस्य निःश्रेयसलक्षण-
स्य प्रसिद्धेरिति, तदप्यसत् । नवया स्याद्वादन्यायनायकेत

विना भगवन् ! आर्य ! वीरभद्रारक ! मे नैव श्रायसं किंचित्
संभवति यतः प्रमाणेन परीक्षयमाणमिति प्रत्येयं ।

तद्विसंविद्द्वैतरूपं निर्वाणं प्रत्यक्षबुद्धिबोध्यं लिङगम्यं
वा, परार्थानुपानवचनप्रतिपाद्यं वा स्याद्वत्यंतराभावाक्ष च
तत्र प्रत्यक्षादिप्रमाणं संभवतीति प्रतिपत्यभावमेव साध्य-
न्त्याचार्याः—

प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते न यत्र
तल्लिंगगम्यं न तदर्थलिंगम् ।
वाचो न वा तद्विषयेण योगः
का तद्वतिः कष्टमशृण्वतां ते ॥ २२ ॥

टीका—यत्र संविद्द्वैते तत्त्वे प्रत्यक्षबुद्धिर्न क्रमते न प्रवर्त्तते
कस्यचित्तथा निश्चयानुत्पत्तेस्तल्लिंगगम्यं स्यात्स्वर्गप्रापणशक्त्या-
दिवत् । न च तत्रार्थरूपं लिङं संभवति तत्स्वर्गावलिंगस्य तद्वत्
प्रत्यक्षबुद्धयतिक्रान्तत्वाल्लिंगान्तरगम्यत्वेऽनवस्थानुषंगात्तक्त्वार्थ-
लिंगस्य वा संभवात् संभवे वा द्वैतप्रसंगात् । न च वाचः परा-
र्थानुपानरूपायास्तद्विषयेण संविद्द्वैतरूपेण योगः परंपरयाऽपि
संबंधायोगात्, ततः का तस्य तत्त्वस्य गतिर्न काचित् । प्रत्यक्षा
लैणिकी शब्दी वा प्रतिपत्तिरस्तीति कष्टं दर्शनं ते तत्र शासन-
मशृण्वतां ताथागतानामिति ग्राहं । संवृत्या तत्प्रतिपत्तिर्न कष्टमिति
अन्यपानान्पत्याहुः—

रागाद्यविद्यानलदीपनं च
 विमोक्षविद्यामृतशासनं च ।
 न भिद्यते संवृतिवादिवाक्यं
 भवत्प्रतीपं परमार्थशून्यम् ॥२३॥

टीका—यथैव हि रागाद्यविद्यानलस्य दीपनं च वाक्यं “अग्निरष्टोमेन गजेत सर्वगकामः” इत्यादिकं संवृतिवादिनां रौगतानां परमार्थशून्यं तथा विमोक्षविद्यामृतस्य शासनप्रयि काक्यं “सद्यग्नानवृत्त्वाभावनातो निःश्रेयस” पित्त्याद्यपि, ततो न भिद्यते परमार्थशून्यत्वाविशेषात् । परमार्थशून्यत्वं तु तद्वाक्यस्य भवत्प्रतीपत्वं तु मर्बधैकान्तविषयतयैवोपगतत्वात् । भवतो दि वीरस्यानेकान्तशासनस्य न विचिद्वाच्यं सर्वथा परमार्थशून्यं रागाद्यविद्यानलदीपनस्यापि वक्तव्यस्य वंधकाग्नलक्षणेन परमार्थेनाशून्यत्वात्, विमोक्षविद्यामृतशासनस्येव वक्यस्य मोक्षकारणरूपेण परमार्थेनेति तात्पर्यार्थः ।

ननु च संवृतिवादिनोऽपि श्रुतपर्यायी चिन्तापर्यायी च भावना प्रकर्षपर्यन्तं प्राप्ता यांगिन प्रत्यक्षसंविदद्वयं प्रसूते, गुरुणोपदिष्टायाः कस्याश्रितदविद्यायाः प्रकृष्टविद्याप्रसून्ये स्वयं शील्यमानायाः संभवाविगोधादिति च प्रतिपद्मानान्प्रति प्राहुः—

विद्याप्रसूत्यै किल शील्यमाना,

भवत्यविद्या गुरुणोपदिष्टा ।
अहो त्वदीयोक्त्यनभिज्ञमोहो,
यज्जन्मने यत्तदजन्मने तत् ॥ २४ ॥

थीका—सकला ह्यविद्या तत्त्वदविद्यान्तग्रन्थमूल्यै प्रविद्धा
लोके सा गुरुणाष्टुपदिष्टा भाव्यमाना विद्याप्रमूल्यै भवतीति
बदतः सौगतस्य कथमहो भगवन् ! वीर ! त्वदीयोक्त्यन-
भिज्ञस्य मोहो न भवेत् ! दर्शनमोहोदयापाये विरुद्धाभिनिवेश-
शासंभवात् । यद्दि निमित्तपदिद्युलक्षणमविद्याजन्मने तदेव
तस्याः पुनरजन्मने प्रसिद्धं स्यादिति विरुद्धाऽभिनिवेशः
स्यात् । नहि पदिरापानं मदजन्मने प्रसिद्धं मदाजन्मने नि-
मित्तं भवितुमर्हति । ननु च यथा विषपक्षणं विषविकार-
कारणं प्रसिद्धमपि किंचिद्विषविकाराजन्मने हृष्टं तथा काचि-
दविद्याऽपि भाव्यमाना स्वयमविद्या जन्माभावाय भविष्य-
ति विरोधाभावादिति कश्चित्; सोऽप्यपर्मालोचितवचनः ।
अन्यद्दि जंगमविषं भ्रमदाहमूर्च्छादिविकारस्य जन्मने प्रसिद्धं
तदजन्मने पुनरन्यदेव स्थावरविषं तत्प्रतिपक्षभूतमिति विषमू-
दाहरणं । तर्ह्यविद्यापि संसारहेतुरनादिवासनामहुद्भूताऽन्यैवा-
विद्यानुकूला, मोक्षहेतुः पुनरनादविद्याजन्मनिष्ठिकरी विद्याऽ-
नुकूला चान्या तत्प्रतिपक्षभूतत्वादिति साम्यमुदाहरणस्यास्तु
विशेषाभावादिति वचनं न परीक्षाक्षयं अविद्याप्रतिपक्षभूताया
एवाविद्यायाः संभवाभावाद्विद्यात्वानुषंगात् । नन्येवं विषप्रतिप-

स भूतस्य विषान्तरस्यापि विषत्वं माभूतस्यामृतत्वानुषंगात् ।
 इत्येतदपि न प्रतिकूलं नः । जंगपविषप्रतिपक्षभूतं हि स्थावर-
 विषमत एव विषममृतमिति प्रसिद्धं सर्वथा तस्य विषत्वे वि-
 षान्तरप्रतिपक्षत्वविरोधात् । कथंचिद्विषत्वं क्षीरादेरपि न
 निवार्यते तदभ्यवहरणानंतरमपि कस्यचिन्मरणादर्शनात् ।
 काचिदविद्या तु विद्यानुकूला यदि कथंचिद्विद्या निगदेता-
 न्यथानाथविद्याप्रतिपक्षत्वायोगात्तदा न किंचिदनिष्टं स्याद्वा-
 दिमताश्रयणात्संवृतिवादिमतविरोधात् । स्याद्वादिनां हि के-
 वलज्ञानरूपां परमां विद्यामपेद्य क्षायिकीं ज्ञायोपशमिकीं
 प्रतिज्ञानादिरूपापकृष्टविद्याप्यविद्याऽभिप्रेता नानादिमिथ्या-
 झानदर्शनलक्षणाविद्यापेक्षया तस्यास्तप्रतिपक्षभूतत्वाद्विद्या-
 त्वसिद्धेरिति न सर्वथाऽप्यविद्यात्मिकाभावना गुरुष्णोपदिष्टापि
 विद्याप्रसूत्यै व्याघ्राताद् गुरोरपि तदुपदेष्टुरगुरुत्वप्रसंगाद्विद्यो-
 पदेशिन एव गुरुत्वप्रसिद्धेः । ततोऽनुपायमेव संविदद्वैतं त-
 चं सर्वप्रमाणगोचरातिक्रांतत्वात् पुरुषाद्वैतवदिति स्थितम् ।

संप्रत्यवसरप्राप्तमार्बैकांतवादिमतमनूद्य निराकर्तुमार-
 भन्ते सूरिवर्याः—

अभावमात्रं परमार्थवृत्तेः

सा संवृतिः सर्वविशेषशूल्या ।

तस्या विशेषौ किल बंधमोक्षौ

हेत्वात्मनेति त्वदनाथवाक्यम् ॥ २५ ॥

टीका—न च वहिरन्तश्च निरन्वयक्षणिकपरमाणुमात्रं
तत्त्वं सौत्रान्तिकनिराकरणात् । नाप्यन्तःसंवित्तरपाणुमात्रं
संविदद्वैतमात्रं वा योगाचारपतनिरसनात् । किं तर्हभाव-
मात्रं तत्त्वं माध्यमिकमतमेव परमार्थवृत्तेरभ्युपगम्यते । सा तु
परमार्थवृत्तिः संवृतिः न पुनः शून्यसंविचिनिस्तात्त्विकी यतः
शून्यसंविदो विश्विषेधः स्यात् । तथाहि—सा परमार्थवृत्तिः
संवृतिः सर्वविशेषशून्यत्वात्सर्वेषां विशेषाणां पदार्थसद्भाव-
वादिभिरभ्युपगम्यपानानां तदभ्युपगमेनैव वाध्यपानानां व्य-
वस्थानासंभवादविद्याया एव प्रसिद्धेः, वंशपोक्षावपि तस्या एव
संवृत्तेरविद्यात्मिकायाः सकलतात्त्विकविशेषशून्याया अपि वि-
शेषो सांख्यो सांख्यतेर्नैव हेतुस्वभावेनास्थात्मीयाभिनिवेशेन नैरा-
स्थ्यभावनाभ्यासेन च विद्यीयमानो न विरुद्धो किलेति
शून्यवादिमतसूचनं, तदेतद् त्वदनाथानां सर्वथा शून्यवादिनां
वाक्यं, न पुनस्त्वं भगवान् वीरो नाथो येषामनेकान्तवादि-
नां तेषामेतद्वाक्यं तैः स्वरूपादिचतुष्टयेन सतामेवाक्लिप्ता-
त्मकानां पररूपादिचतुष्टयेनार्थानां शून्यत्ववचनात् । तदभाव-
मात्रस्यापि स्वरूपेणासत्त्वे पारमार्थिकत्वविरोधात् । संवि-
न्यात्रस्य शून्यस्य स्वरूपेण सत्त्वे पररूपेण ग्राह्यग्राहकभावा-
दिना चासत्त्वे सदसदात्मकस्य कथंचिच्छून्यस्य सिद्धेः स्या-
द्वादिवाक्यस्यैव व्यवस्थानात् ततस्त्वदनाथवाक्यमठ्यवस्थि-
तमेव मृषेत्यर्थः ।

यथा न शून्यवादिनां शून्यं तत्त्वमनुपपन्नं तथाऽनेकान्त-

वादिनस्त्वतः परेषामपि शून्यपनुष्पन्नमपि संप्राप्तिप्रिति पति
पाद्यनित श्रीसूरयः—

व्यतीतसामान्यविशेषभावा-
द्विश्वाभिलापार्थविकल्पशून्यम् ।

खपुष्पवत्स्यादसदेव तत्त्वं
प्रबुद्धतत्त्वाद्वतः परेषाम् ॥ २६ ॥

टीका—ये तद्वद् व्यतीतसामान्यभावात्सर्वतो व्याख्या-
तानर्थानाचक्षते भेदवादिनः सौगताः प्रबुद्धतत्त्वाद्वतो वीरा-
त्परे तेषां सामान्याणहवे विशेषाणामभावः प्रसज्येत तेषां सामा-
न्यनांतरीयकत्वात्तदभावे तद्वावायोगात् सर्वथा निरूपाख्य-
भेदायातं । येऽपि च सामान्यमेव प्रधानमेकं प्रवदंति पहदहंका-
रादिविशेषणाः तदव्यतिरेकेणासत्त्वात्तेषामपि भवतः परेषां
सकलविशेषभावे सामान्यस्थाऽपि तदविनाभाविनोऽसत्त्वप्र-
संगात् व्यक्ताव्यक्तात्मनश्च भोग्यस्याभावे भोक्तुरप्यात्मनोऽसं-
भव इति सर्वशून्यत्वमनिच्छतोऽपि सिध्येत् । व्यक्ताव्यक्तयोः
कथंचिद्देवप्रतिज्ञाने तु स्याद्वादन्यायानुसरणान्न त्वदनाथवा-
क्यं स्यात् तथा परस्परनिरपेक्षसामान्यविशेषभाववादिनो
यौगाः कथंचित्सामान्यविशेषभावानभ्युपगमात् व्यतीतसा-
मान्यविशेषभावाः प्रसिद्धा एव भवतः परे तेषामपि खपुष्प-
वदसदेव तत्त्वमायातं विश्वाभिलापार्थविकल्पशून्यत्वात् व्य-
तीतसामान्यभाववादिवत् व्यतीतविशेषभाववादिवच्च । सर्वथा

शून्यवादिवद्वेति वाक्यभेदेन व्याख्यातव्यं । परं ते सामान्यं सत्त्वं द्रष्टव्यगुणकर्मभ्यो भिन्नप्रभिन्नतां द्रव्यादीनामसत्त्वं स्यात्सत्त्वाऽङ्गन्तत्वात्प्रागभावादिवत् । ननु द्रव्यादीनामप्रतिपत्तौ हेतोराश्रयासिद्धिः प्रतिपत्तौ धर्मिण्ठाहकप्रपाणवाधितः पक्षः कालात्प्रयापदिष्टश्च हेतुरिति चेत्, न द्रव्यादीनां धर्मिणां कथंचित्सत्त्वादभिन्नानां प्रत्यक्षादिप्रपाणातः सिद्धेष्टत्त्वं ज्ञेदैकांतसाधनायैव प्रयुक्तस्य हेतोः कालात्प्रयापदिष्टत्वमिद्देः । ननु च सत्त्वाद् भिन्नत्वादित्येतस्य हेतोरप्रतिपत्तौ स्यादसिद्धत्वं प्रतिपत्तौ तु धर्मिण्ठाहकप्रपाणवाधितः पक्षो हेतुश्च कालात्प्रयोदितः स्याद् द्रव्यादीनां सत्त्वादभेदग्रहणस्य द्रष्टव्यस्य सत्त्वप्रतिपत्तिनान्तरीयकलात्तदसत्त्वे तदभेदप्रतिपत्तेरयोगादिति च न समीचीनं वचनं प्रसंगसाधनप्रयोगात् इति चेत् न सत्त्वाऽङ्गन्तत्वं हि प्रागभावादिषु परैः स्वयमसत्त्वेन व्याप्तं प्रतिपत्तं द्रव्यादिषु प्रतिपत्तमानमसत्त्वं साध्यतीति साध्यसाधनयोर्व्याप्त्यव्याप्तक्षभावनिश्चये सति व्याप्त्याभ्युपगमस्य व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयकस्य प्रदर्शनं प्रसंगसाधनमनुयन्थताम् । ननु च किं सत्त्वासप्तवायोऽसत्त्वं साध्यते किं वा नास्तित्वप्रिति पक्षद्वितीयं । न तावदुत्तरः पक्षः श्रेयान्नास्तित्वेन सत्त्वाऽङ्गन्तत्वस्याव्याप्तत्वात् । प्रागभावादीनां सत्त्वाद् भिन्नत्वेऽपि सञ्ज्ञावादन्यथोदाहरणत्वविरोधात् । प्रथमपक्षे तु प्रपाणवाधिः सत्त्वसमवायस्य द्रव्यादिषु प्रयाणतः प्रतीतेः सत्त्वासमवायस्य तया बाध्यमानत्वं । तथा हि-द्रव्यादीनि सत्त्वासमवायभांजि सत्प्रत्यय-

विषयत्वात्, यत्तु न सत्तासमवायभाक्तञ्च सत्प्रत्ययविषयो
यथा प्रागभावाद्यसत्तच्च । सत्प्रत्ययविषयाश्च द्रव्यादीनि
तस्मात्सत्तासमवायभाजीति द्रव्यादिषु सत्त्वस्य समवायप्रतीतिः
सत्त्वासमवायस्य बाधिकास्ति ततो न द्रव्यादीनामसत्त्वं
सत्त्वासमवायलक्षणं साधयितुं शक्यं नास्तिलक्षणासत्त्वदि-
ति केचित् । तेऽपि न परीक्षकाः । सत्प्रत्ययविषयत्वस्य हेतोः
परेषां सामान्यादिभिर्व्यभिचारात् तेषु सत्त्वसमवायासंभवेऽपि
भावात् । यदि पुनर्मुख्यसत्प्रत्ययविषयत्वस्य हेतुत्वान्नोपच-
रितसत्प्रत्ययविषयत्वेन व्यभिचारोऽज्ञावनं युक्तयतिप्रसंगादिति
निगद्यते तदा सामान्यादिषु कुतः सत्प्रत्ययविषयत्वमुपचरि-
तमिति वक्तव्यं । स्वरूपसत्त्वनिमित्तच्चादिति केचित् । व्याह-
तमेतत् । स्वरूपसत्त्वनिमित्तं चोपचरितं चेति को ह्यावा-
लिशः स्वरूपसत्त्वनिमित्तं सत्प्रत्ययविषयत्वमुपचरितमर्थान्तर-
भूतसत्तासंबन्धत्वान्मुख्यमिति ब्रूयादन्यत्र जडात्मनः, यष्टि-
स्वरूपनिमित्तं हि यष्टौ यष्टिप्रत्ययविषयत्वं मुख्यं लोके
प्रसिद्धं, यष्टिसंबन्धात् तु पुरुषे गौणमिति मुख्योपचरितव्यवस्था-
तिक्रपादनादेयवचनताऽस्य स्यात् । स्यादाकृतं ते सत्तास-
मवायनिमित्तं सत्प्रत्ययविषयत्वं द्रव्यादिषु मुख्यं तद्विशेषणास-
त्त्वग्रहणपूर्वकत्वाद्विशेषणप्रत्ययनिमित्तस्य विशेषप्रत्ययस्य मु-
ख्यत्वसिद्धेः यष्टित्वविशेषणग्रहणनिमित्तकविशेष्ययष्टिप्रत्य-
यवत् सत्त्वविशेषणग्रहणमंतरेण सामान्यादिषु सत्प्रत्यय-

१ ‘यष्टिसंबन्धत्वं तु पुरुषेषु’ इति पुस्तकांतरे ।

स्योपचरितत्वसिद्धेः पुरुषे यष्टित्वग्रहणमन्तरेण यष्टिप्रत्ययवदिति । तदप्यसम्यक् । तत एव व्यभिचारसिद्धेः सत्प्रत्यपविषयस्वस्य सत्वसमवायायासंभवेऽपि भावात् । ततो द्रव्यादीनां सत्तातोऽस्त्यंतभेदोपगमे सत्वासमवायलक्षणमसत्त्वं सिद्धमेव । तथा पृथिव्यादीनामद्रव्यत्वं द्रव्यत्वाद्विनत्वाद्रूपादिवत्, रूपादीनां चागुणत्वं गुणत्वादन्यत्वादुत्क्षेपणादिवत्, उत्क्षेपणादीनामकर्मकत्वं कर्मत्वादर्थन्तरत्वाद्विविति व्यतीतसामान्यत्वं द्रव्यगुणकर्मणामसत्त्वं साधयति व्यतीतविशेषत्वत् । तत्सूक्तं सूरिभिः सदसत्त्वं योगानामपसदेव व्यतीतसामान्यविशेषभावात् खपुष्पवदिति सामान्यविशेषसमवायानां हि स्वयमसामान्यविशेषत्वाभ्युपगमात्प्रागभावादिवक्षासिद्धं व्यतीतसामान्यविशेषत्ववश्वं साधनं । नाऽपि द्रव्यगुणकर्मणां सामान्याद्यभावे प्रसिद्धे तेषां व्यतीतसामान्यविशेषत्ववश्यामसिद्धरथवा द्रव्यादीनां नास्तित्वमेव साध्यं खपुष्पवदिति वृष्टिंतसामर्थ्यात्, ततो विश्वाभिलापार्थविकल्पशून्यं तत्त्वमायातं । अभिलापः पदं तस्यार्थः, अभिलापार्थः पदार्थ इति यावत्, तस्य विकल्पा भेदाः षट् द्रव्यादयोर्वेशेषिकाणां, प्रमाणादयः षोडश नैयायिकानां, विश्वे च तेऽभिलापार्थविकल्पः क्षेत्रिक्षपदार्थवृशिस्तैः शून्यं तत्त्वं स्यात्त्वपुष्पवदसदेव प्रबुद्धतत्त्वाद्विवतः परेषामिति वचनाद्विवतो वीरस्यानेकांततत्त्ववादिनो नासत्त्वं स्यादिति प्रतीयते । कर्थचित्सामान्यविशेषभावस्य द्रव्यादिषु प्रतीयमानत्वात्प्रमाणादिषु बाधकाभावात् द्रव्या-

त्वर्थंचिदभेदो गुणकर्मणोरशक्यविशेचनत्वात्सिद्धस्तथा सामान्यविशेषसपवायानां प्रागभावादीनां च विशेषाभावात्तदत्पाणाप्रमेयमंशयप्रयोजनदृष्टांतसिद्धांतावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवित्तेद्वाहेत्वाभासद्वलजातिनग्रहस्थानानां च द्रव्यपर्यायविशेषाणां द्रव्यात्वत्वर्थंचिद्वेदस्य संप्रत्ययान्वासत्वं पर्यायान्तरवत् । न ह यत एव ‘पर्याया द्रव्यस्य’ इति नियमो व्यवतिष्ठुने । विपर्ययानध्यवसाययोरपि प्रमाणादिषोऽशपदार्थेभ्योऽर्थान्तरभूतयोः प्रतीतेः । पदार्थसंख्यानियमानभ्युपगमे वानेकान्तवादाननिक्रम एव सिद्धः । यथा च भवतः परेषां वैशेषिकानैयायिकानां सकलपदार्थभेदशून्यं तत्त्वमसदेव स्यात्खणुष्पवत्तथा सांख्यादीनामपि व्यतीतसामान्यविशेषत्वाविशेषत्वात् । ततः सर्वेषामपि सर्वार्थान्तवादिनामसदेव तत्त्वमिति संक्षेपतः प्रतिपत्तव्यम् ।

सांप्रतं परमतमाशंक्य पुनरपि निशकर्त्तुमारभते—

अतत्स्वभावेऽप्यनयोरुपायाद्

गतिर्भवेत्तौ वचनीयगम्यौ ।

सम्बन्धिनौ चेन्न विरोधि दृष्टं

वाच्यं यथार्थं न च दूषणं तत् ॥२७॥

टीका— तदभावमात्रं स्वभावोऽस्येति तत्स्वभावं शून्यस्वभावतस्वं न तत्स्वभावमतत्स्वभावं अशून्यस्वभावं सत्स्वभावमित्यर्थः । तस्मिन्नतत्स्वभावेऽपि तत्त्वेऽभ्युपगम्यमानेऽनयोर्बन्धमोक्षयो-

हपायास्कारकरुपाद्वतिः प्रतिपत्तिः स्याज्ञान्यथा शायक-
रुपाचोपायाद्वतिः प्रतिपत्तिः स्य ज्ञान्यथेति निश्चेतत्त्वं ।
स च प्रतिपत्त्युपायः परार्थस्तावद्वचनं स्वार्थश्च प्रत्यक्षमनुभानं
वा, तत्र यदा वचनं बंधपोक्षयोर्गतेरुपायस्तदा वचनीयौ तौ
यदा पुनरनुभानमुपायस्तदा गम्यौ तावनुमेयौ, यदा तु प्रत्य-
क्षमुपायस्तदा प्रत्यक्षेण गम्यौ परिन्छेद्यौ तौ संबंधिनौ पर-
स्पराविनाभूतौ बंधेन विना मोक्षस्यानुपपत्तेवन्धपूर्वकत्वान्मो-
क्षस्य, मोक्षेण च विना न बंधः संभवति प्रागवद्दम्य पश्चाद्व-
न्धोपपत्तेरन्यथा शाश्वतिकबंधप्रसक्तेः । अनादिबंधसंताना-
पेक्षया बन्धपूर्वकत्वेऽपि बंधस्य बंधविशेषापेक्षया तस्याबंधपू-
र्वकत्वसिद्धेः प्रागवद्दस्यैव देशतो मोक्षरूपत्वान्मोक्षाविनाभावी
बंध इत्यविनाभाविवंधेन संबंधिनौ तौ बंधपोक्षौ चेदिति पर-
प्रतस्य सूचकशब्दस्तत्त्वनेन प्रतिपिध्यते नैव सत्स्वभावं
तत्त्वं हृष्टं सर्वथा क्षणिकमक्षणिकं वा विरोधित्वात्तद्रिगेति हृष्टं
प्रत्यक्षतो वहिरंतश्च निन्यानित्यात्मनो जात्यंतरस्य सर्वथा क्ष-
णिकाक्षणिकैकांतविरोधिनो निवधिं विनिश्चयात्, सम्यगनु-
भानतोऽपि तस्यैवानुमेयत्वात् । मर्ममनेकांतात्मकं वम्तु वस्तुत्वा-
न्यथाऽनुपपत्तेरिति स्वभावविरुद्धोपलंभः परप्रततत्त्वं विरुणद्वि ।
नास्ति परमते सत्तत्त्वं सर्वथा क्षणिकमक्षणिकं वा ततो जा-
त्यंतरस्यानेकांतस्य दर्शनादिति स्वभावानुपलंभो वा तद्रिप्र-
तिषेध इति नास्ति सर्वथैकांतात्मकं सत्तत्त्वं प्रत्यक्षाद्यनुपल-
भेरिति माभूत्स्वयं प्रत्यक्षादिप्रमाणातः सत्तत्त्वस्य दर्शनं । पर-

पक्षदृष्टव्यात्वात्तिसद्धिरेवेति चायुक्तं यस्माद्वाच्यं यथार्थं न च
दृष्टग्णं तत् यद् दृष्टग्णं परपक्षे स्वयमुच्यते क्षणिकैकांतवादिना
तत्र च यथार्थं वाच्यं तच्च न सम्यग्दृष्टग्णं वक्तुं शक्यमित्यर्थः ।
न नित्यं वस्तु सदनर्थक्रियाकारित्वात् क्रमयौगपद्धरहितत्वात्
खपुष्टवदिति दृष्टग्णस्यायथार्थत्वाद्दृष्टग्णाभासत्वसिद्धेः परप-
क्षवत्स्वपक्षेऽपि भावान्न तत्प्रत्यनयोः पक्षयोः क्वचिद्विशेषोऽ-
स्ति । ताभ्यां हि सर्वथैकांताभ्यामनेकान्तो निवर्तते विरोधा-
निवृत्तौ तु क्रमाक्रमौ निवर्तते तयोस्तेन व्याप्तत्वात् । एक-
स्यानेकदेशकालव्यापिनो देशक्रमकालक्रमदर्शनात् । तथै-
कस्यानेकशक्त्यात्मकस्य नानाकार्यकरणे यौगपद्धरसिद्धेः ।
क्रमाक्रमयोश्च निवृत्तौ ततोऽर्थक्रियाया निवृत्तिस्तस्यास्ताभ्यां
व्याप्तत्वात् क्रमाक्रमाभ्यां विना क्वचिदर्थक्रियानुपलब्धेस्त-
निवृत्तौ च वस्तुतत्त्वं न व्यवतिष्ठते तस्यार्थक्रियया व्याप्त-
त्वात् । न च स्वपक्षं परपक्षवत् निराकुर्वद्दृष्टग्णं यथार्थं भवि-
तुपर्हति न सर्वथाऽप्यसत्तत्वं तत एव नोभयमनुभयं चार्थक्रि-
याविरोधात् ।

कि तर्हि सकलमवाच्यमेवेत्येकान्तवादेऽपि दृष्टग्णमा-
वैद्यन्ति ।

उपेयतत्वानभिलाप्यताव-
दुपायतत्वानभिलाप्यता स्यात् ।

१ प्रमाणत्वात् इति पाठान्तरं ।

अशेषतत्त्वानभिलाप्यतायां

द्विषां भवद्युक्त्यभिलाप्यतायाः ॥२८॥

टीका—भवतो वीरस्य युक्तिर्णायः स्याद्वादनीतिस्तस्या अभिलाप्यता कथंचित्सदेवाशेषं तत्त्वं स्वरूपादिचतुष्ट्रयात्कथं-चिदसदेव विपर्यासादित्यादिवचनविषयता तस्या द्विषां श-श्रूणां मशेषस्यापि तत्त्वस्यानभिलाप्यतायामभिप्रेतायां किं स्यादुपायतत्त्वस्यानभिलाप्यता स्यादुपेयतःवस्येवाविशेषात् । ततश्च यथोषेयं तत्त्वं निःश्रेयसं सर्वथाभिलपितुमशक्यं तथो-पायतत्त्वमपि, तत्प्राप्तेः कारकं ज्ञायकं चेति सर्वथाऽप्यनभिला-प्यं तत्त्वमित्यपि नाभिलपितुं शक्येत प्रतिज्ञातविरोधादित्य-भिप्रायमाविःकुर्वन्ति स्वापिनः—

अवाच्यमित्यत्र च वाच्यभावा-

दवाच्यमेवेत्ययथाप्रतिज्ञम् ।

स्वरूपतश्चेत्पररूपवाचि

स्वरूपवाचीति वचो विरुद्धम् ॥२९॥

टीका—सर्वथाऽप्यशेषं तत्त्वमवाच्यं स्यात्स्वरूपतो वा पररूपतो वा गत्यंतरःभावात् । प्रथमपक्षे तावद्वाच्यमयथा-प्रतिज्ञे प्रसङ्गेत इति क्रियाध्याहारः । कुत एतत् अवाच्य-मित्यत्र वाच्यभावादवाच्यमित्यस्यैव वाच्यत्वादित्यर्थः । सप्त-श्याः षष्ठ्यर्थत्वाच्चशब्दस्यैव शब्दर्थत्वात् । स्वरूपेणावाच्य-

मिति द्वितीयपक्षे सर्वत्र वच इति विशद्वचनमा-
सज्ज्येत । पररूपेणावाच्यतत्त्वमिति तृतीयपक्षेऽपि पररूपवाचि
सर्वत्र वच इति विशद्यते । सर्वत्र स्वप्रतिज्ञाव्यतिक्रमादयथा-
प्रतिज्ञिति सम्बन्धनीयम् । तदेवं न भावमात्रं नाभावमात्रं
नोभयं नावाच्यमिति चत्वारो मिथ्याप्रवादाः प्रतिषिद्धाः
सामर्थ्यात्र सदवाच्यं तत्वं नासदवाच्यं नोभयावाच्यं नानु-
भयावाच्यमिति निवेदितं भवति न्यायस्य समानत्वात् ।

कथम् च द्वाच्यत्वप्रतिज्ञायां तत्त्वस्य प्रतिपादकं वचनं
सत्यमेव नृत्यमेव वेद्याद्येकान्तनिग्रासार्थमाहुः—

सत्यानृतं वाऽप्यनृतानृतं वाऽ-

प्यस्तीह किं वस्त्वतिशायनेन ।

युक्तं प्रतिद्रुद्यनुबंधिमिश्रं

न वस्तु ताटक् त्वद्वते जिनेहक् ॥ ३० ॥

टीका—किंचद्वचन सत्यानृतमेवाऽस्ति प्रतिद्रुद्यमिश्रं
सत्येतरज्ञानपूर्वकत्वाच्छाखायां चन्द्रपसं पश्येति, यथा तत्र
हि चन्द्रपसं पठेनि सत्यं चन्द्रपसो दर्शनात्संवादकप्रादुर्भा-
वात् । शाखाय मिति वचनमनृतं शाख प्रयासम् वदर्शनस्य
चन्द्रपसि विसंवादकत्वात्त्रिवेचनवचनस्य नृत्यसिद्धेः । सत्यं
च तदनृतं चेति सत्य नृत्यमिति एते प्रतिद्रुद्यमिश्रां सत्यानृ-
ताभ्यां वस्त्वं ग्राभ्यां मिश्रं युक्तमिति संबंधनीयं । परबचनम-
नृत्यानृतमेवास्ति तत्त्वानुबंधिमिश्रं यथा चन्द्रद्वयं गिरौ पश्ये-

ति । तत्र हि यथा चन्द्रद्वयवचनमनुरूपं तथा गिरौ चन्द्रवचनमपि विसंवादिज्ञानपूर्वकत्वात् । एकस्मान्दनुरूपादपरमनुरूपं भिसंभिधीयते तेनानुरूपं भिन्नमिति प्रत्येयं । प्रतिद्वन्द्वि चानुरूपं च प्रतिद्वन्द्वयनुरूपं भिन्नी ताभ्यां । पिश्रं सत्यानुरूपं चाप्यनुरूपानुरूपं वेति यथा संख्यप्रभिसंबधः द्वाशब्दस्यैव कारार्थत्वादेव व्याख्यातव्यम् । तज्जटक् भगवन् । जिन । नाथ । त्वद्वते त्वतो विना वस्तुनोऽतिशायनेनाभिधेयस्यातिशयेन वचनं प्रवर्त्तमानं किं युक्तं, नैव युक्तप्रित्यर्थात्त्वैव युक्तमेतदिति गम्यते ताहगनेकान्तमेकं नावास्तवं भवति त्वद्वते सर्वर्थैकान्तस्यावस्तुत्वव्यवस्थानात् ।

कथं पुनः किंचिदनुरूपमपि सत्यं मत्यपल्पनुरूपं किंचिदनुरूपमनुरूपेवेति भेदोऽनुरूपस्य स्यादित्यावेदयन्ति ।

सहक्रमाद्वा विषयाल्पभूरि

भेदेऽनुरूपं भेदि न चात्मभेदात् ।

आत्मान्तरं स्याद्विदुरं समं च

स्याज्ञानुरूपात्मानभिलाप्यता च ॥ ३१ ॥

टीका—विषयस्याभिधेयस्य लाभूरिभेदोल्पानशविकल्पस्तस्मिन् सति स्यादेवानुरूपं भेदवत् यस्य हि वचनस्याभिधेयप्रलयमसत्यं भूरि सत्यं तत्सत्यानुरूपमिति, सत्यविशेषणेनानुरूपं भेदि प्रतिपाद्यते । यस्य तु वचनस्याभिधेयप्रलयं सत्यमनुरूपं भूरि तदनुरूपमिति, अनुरूपविशेषणेनानुरूपं । न चात्मभेदादनुरूपं

थेदि भवतुमर्हति तस्यानृतात्मना सामान्येन भेदाभावात् । आत्मान्तरं तु तस्यानृतस्यात्मविशेषलक्षणं स्यात् भिदुरं भेदस्वभावं विशेषणभेदात्स्यात् समप्रभेदस्वभावं विशेषणभेदाभावात् चशब्दादुभयं हेतुद्वयर्पणाक्रमेणेति यथासंभवमभिसंबध्यते न तु यथासंख्यं छन्दोवशात्तथाभिधानात्सहद्वयर्पणात् । स्याच्चानृतात्मानभिलाप्यता च सहोभाभ्यां धर्माभ्यापभिलपितुपशक्यत्वाच्चशब्दोऽनभिलाप्यांतराभिलाप्यांतरभंगत्रयसमुच्चयः स्याद्विदुरं चानभिलाप्यं च स्यात्समं चाऽनभिलाप्यं चेति स्यादुभयं चाऽनभिलाप्यं चेति सप्तभंगी प्रत्येया ।

ननु च न वस्तुनोऽतिशायनं संभवति, सदेकरूपत्वादित्येके । असदेकान्तात्मकत्वादित्यपरे । सच्चासच्चाच्चशेषवर्षप्रतिषेधादिति चेतरे । तत्त्विराकरणपुरासरं वस्तुनोऽनेकातिशयमञ्जात्रमावेदयन्ति—

न सच्च नासच्च न वृष्टमेक-

मात्मान्तरं सर्वनिषेधगम्यम् ।

वृष्टं विमिश्रं तदुपाधिभेदा-

त्स्वप्नेऽपि नैतत्त्ववृषेः परेषाम् ॥ ३२ ॥

टीका—न तावत्सत्त्वाद्वैतं तत्त्वं वृष्टमिति स्वभावानुपलभेन सन्मात्रं निराक्रियते । तथा हि—नास्ति सन्मात्रं सकलविशेषणरहितं वृश्यस्य सतो जातुचिददर्शनात् असन्मात्रवदि-

त्यनेन नासदेव तत्त्वं हृष्टमिति व्याख्यातं चशब्दस्य समुच्च-
यार्थत्वात् । परस्परनिरपेक्षं सत्त्वमसत्त्वं न हृष्टमिति घटना-
सेन न परस्परनिरपेक्षं सदसत्त्वं संभवति सर्वप्रमाणातो
हृष्टत्वात्सन्मात्रतत्त्ववदसन्मात्रतत्त्ववदेति प्रतिपादितं प्रतिप-
त्तव्यं । तथा न सञ्चाप्यसन्नोभयं नैकं नानेकमित्यादय-
शेषधर्मप्रतिषेधगम्यमात्मान्तरं परमब्रह्मतत्त्वमित्यपि न संभवति ।
कदाचित्तथैवादर्शनादिति न हृष्टमेकमात्मान्तरं सर्वनिषेधग-
म्यमिति व्याख्यातव्यं । तदेवं सत्त्वासत्त्वविमिश्रं परस्परापेक्षं
तत्त्वं हृष्टमित्यनेन सदसदादेयकांतव्यवच्छेदेन सदसदादय-
नेकान्तत्वं साध्यते, तदुपाधिभेदात् । उपाधिर्विशेषणं स्व-
द्रव्यक्षेत्रकालभावाः परद्रव्यक्षेत्रकालभावाश्च तज्ज्ञादित्यर्थः ।
तेनेदमुक्तं भवति— स्यात्सदेव सर्वं तत्त्वं स्वरूपादिचतुष्टयात्,
स्यादसदेव सर्वं तत्त्वं पररूपादिचतुष्टयात्, स्यादुभयं स्वपर-
रूपादिचतुष्टयद्वैतकमार्पितात्, स्यादवाच्यं सहार्पिततद्वैतात्,
स्यात्सदवाच्यं स्वरूपादिचतुष्टयादशक्तेः, स्यादसदवाच्यं प-
ररूपादिचतुष्टयादशक्तेः, स्यात्सदसदवाच्यं कमार्पितस्वपररू-
पादिचतुष्टयद्वैतात्सहार्पिततद्वैताच । इत्येवं तदेव सदसदादि-
विमिश्रं तत्त्वं हृष्टमिति वस्तुनोऽतिशायनेन किञ्चित्सत्यानृतं
किञ्चिदनृतानृतं वचनं तवैव युक्तम् । त्वत्तो महर्षेरन्वेषां
सदाद्येकान्तवादिनां स्वप्नेषि नैतत्संभवतीति वाक्यार्थः
प्रतिपत्तव्यः ।

ननु च निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं निरंशबस्तुपतिभास्येव न

धर्मिधर्मात्मकवस्तुप्रतिभासितपृष्ठभाविविकल्पनज्ञानोत्थं धर्मो
धर्मोऽयमिति धर्मिधर्मव्यवहारस्य प्रवृत्तेस्तेन च सकलकल्प-
नापोदेन प्रत्यक्षेण निरंशस्वलक्षणास्यादर्शनमसिद्धं कथं तद-
भावं साधयेदिति वदन्तं प्रत्याहुः—

प्रत्यक्षनिर्देशवदप्यसिद्ध-
मकल्पकं ज्ञापयितुं ह्यशक्यम् ।
विना च सिद्धेन च लक्षणार्थो
न तावकद्वेषिणि वीर ! सत्यम् ॥३३॥

टीका—प्रत्यक्षेण निर्देशः प्रत्यक्षनिर्देशः, प्रत्यक्षतो
द्वृष्टा नीलादिकमिदमिति वचनमन्तरेणांगुल्या प्रदर्शनमित्य-
र्थः । स प्रत्यक्षनिर्देशोऽस्यास्तीति प्रत्यक्षनिर्देशवत् । तदप्य
सिद्धं । कुत एतत्, यस्मादकल्पकं ज्ञापयितुं कुतश्चिदप्य-
शक्यं, हि यस्मादर्थे । तेनेदमुक्तं भवति—यस्मादकल्पकं कल्प-
नापोदेन, न विद्यते कल्पः कल्पनाऽस्मिन्निति विग्रहःत्, तद् ज्ञाप-
यितुं संशयितेभ्यो विनेयेभ्यः प्रतिपादयितुं न शक्यं, तस्मा-
त्प्रत्यक्षनिर्देशवदपि तत्त्वमिदप्यसिद्धमिति । तद्द्वि प्रत्यक्षमक-
ल्पकं न तावत्प्रत्यक्षतो ज्ञापयितुं शक्यं तस्य परासंवेदत्वात् ।
नाऽप्यनुमानात्प्रतिबद्धलिंगप्रतिपत्तेरसंभवात्परेषामगृहीतलिं-
गलिंगिसम्बन्धानामनुमानज्ञानेन ज्ञापयितुमशक्तेः । स्वयंप्रति-
पन्नकल्पनापोदप्रत्यक्षप्रतिबद्धलिंगानां तु तज्ज्ञापनानर्थक्यात् ।

को हि स्वयमकल्पकं प्रत्यक्षं तदनिनाभाविलिंगं च प्रतिपद्मानः प्रत्यक्षपकल्पकं न प्रतिपद्येत् । प्रतिपद्मानस्यापि विपरीतसमारोपसंभवाज्ञापनमनुपानेन नानर्थकमिति चेत्, न, समारोपव्यवच्छेदेपि पर्यनुयोगस्य समानत्वात् । किं प्रतिपन्नसाध्यसाधनसंबंधस्यानुगानेन समारोपव्यवच्छेदः साध्यते, स्वयमप्रतिपन्नसाध्यसाधनसंबंधस्य वेति ? न तावत्प्रथमः पक्षः, समारोपस्यैवासंभवात् । स्वयं प्रत्यक्षपकल्पकं तदनिनाभाविसाधनं च प्रतिपद्मानस्य समारोपे परेण प्रत्याशनेऽपि तस्य समारोपप्रसंगात् । नाऽध्यप्रतिपन्नसाध्यसाधनसंबंधस्य साधनप्रदर्शनेन समारोपव्यवच्छेदनं युक्तमतिप्रसंगात् । यदि पुनर्गृहीतविस्मृतसंबंधस्य साध्यसाधनसंबंधस्परणाकारणात्समारोपो व्यवच्छिद्यत इति मतं, तदप्ययुक्तम् । संबंधग्रहणस्यैवासंभवात्, इव्यमविकल्पकप्रत्यक्षानिश्चये तत्स्वभावकार्यानिश्चये च तत्संबंधस्य निश्चेतुपशक्तेः । परतो निश्चयात्तनिश्चये तत्स्वरूपस्यापि निश्चयान्तरान्निश्चयप्रसंगादनवस्थानात् । निश्चयस्वरूपानिश्चये ततोकल्पकप्रत्यक्षव्यवस्थानानुपत्तेः सर्वथा तस्य ज्ञापयितुपशक्तेः कुतः सिद्धिः स्यात् ? विना च सिद्धेन च लक्षणार्थः संभवति “कल्पनापोद्यन्तं प्रत्यक्ष” मिति लक्षणमस्यार्थः प्रत्यक्षप्रत्याशनं, न च प्रत्यक्षस्य सिद्धेविना तत्प्रत्याशनं कर्तुं शक्यमिति नैव लक्षणार्थः कश्चित्संगच्छते । ततो न तावकद्वेषिणि वीर ! सत्यं सर्वथा संभवति । तवाऽप्यतावकः म चासौ द्वेषी चेति तावकद्वेषी तावकशनुरित्य-

र्थः । तस्मिन्न सत्यं वीर ! भगवन्निति व्याख्यानं । अथवा
तवेदं मतं तावकं तद् द्वेषीति तावकद्वेषी सदाद्येकान्तवाद-
स्तस्मिन्न सत्यमेकांतः साधयितुं शक्यत इति व्याख्येयं ।

यथा सत्यं न संभवति तथा कर्त्ता शुभस्याशुभस्य वा कर्मणः,
कार्यं च शुभमशुभं वा तद्द्विषां न घटत इति प्रतिपादयन्ति—

कालान्तरस्ये क्षणिके ध्रुवे वाऽ-

पृथक् पृथक् त्वावचनीयतायाम् ।

विकारहानेन च कर्तृकार्ये

वृथा श्रमोऽयं जिन ! विद्विषां ते॥३४॥

टीका— वस्तुनो जन्मकालादन्यः कालः कालान्तरं तत्र
तिष्ठतीति कालान्तरस्थं नस्मिन्वस्तुनि प्रतिज्ञायमानेऽपि न कर्त्ता
कश्चिदुपद्यते, क्षणिके ध्रुवे वा । वाशब्द इवार्थस्तेनेदमुक्तं
भवति, यथा क्षणिके निरन्वयविनाशनि वहिरन्तश्च वस्तुनि
न कर्त्ताऽस्ति क्रमयौगपथविरोधःतु क्रियाया एवासंभवात् ।
यथा च ध्रुवे कूटस्थे नित्ये निरतिशये दुरुषे मति न कर्त्ता
विद्यते तथा कालान्तरस्थेपि अपरिणामिन पदार्थे न कश्चित्क-
र्त्ता संभवति, कर्तृभावे च न कार्यं स्वयं समीहितं सिद्ध्यति
कर्तृनान्तरीयकत्वात्कार्यस्येति । कुत एतदिति चेत्, विकार-
हानेविकारः परिणामः स्वयमवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वकार-
परित्यागजहदुत्तरोत्तराकारोत्पादस्तस्य हानिरभावस्ततो
विकारहानेरिति हेतुनिर्देशः । विकारो हि विनिवर्त्तमानः

क्रपाक्रमौ निवर्तयति तयोस्तेन व्याप्त्वात् , तनिवृत्तौ तनि-
वृचिसिद्धेस्तौ च निवर्तमानौ क्रियां निवर्त्यतस्तस्यास्ताभ्यां
व्याप्त्वात् । क्रियापाथे च न कर्ता क्रियाधिष्ठस्य द्रव्यस्य
स्वतंत्रस्य कर्तृत्वसिद्धेः । कर्तुरभावे च न कार्ये स्वर्गापर्वगल-
ज्ञणमिति वृथा श्रमोऽयं तपोलक्षणस्तदर्थं क्रियमाणाः स्यात्
जिन ! स्वामिन् ! वीर ! तत्र द्विषां सर्वथैकान्तवादिनां सर्वे-
षामिति संक्षेप्तो व्याख्येयम् ।

ननु च वस्तुनि क्षणिके विकारस्य हानिरवस्थितस्य
द्रव्यस्याभावात्, ध्रुवे च पूर्वकारविनाशोन्नगाकारोत्पादाभा-
वात्, कालान्तरस्थेतु कथं तत्रोभयसंभवादिति केचित् । तेऽपि
न प्रामाणिकाः । प्रागसत एवोत्पन्नस्य कालान्तरस्थस्यापि
पश्चादसर्वैकान्ते सर्वथैकक्षणस्थाद्विशेषाभावादनन्वयत्वस्य
तदवस्थत्वात् । ननु नित्यस्यात्मनोन्तस्तत्त्वस्य पूर्वानुभूत-
स्मृतिहेतोः प्रत्यभिज्ञातुर्र्थक्रियायां व्याप्रियमाणस्य कर्तुः
कार्यस्य च तेन क्रियमाणस्य घटनाद्विशेषः कालान्तरस्थस्य
क्षणिकादिति केचित् । नात्मनोऽपि नित्यस्यैककर्तृत्वानुपत्तेः ।
बुद्ध्याद्यतिशयसद्भावात् कर्तात्मेति चेत्, न, बुद्धी-
चक्राद्वेषप्रयत्नसंस्काराणामात्मनोऽर्थान्तरत्वे खादिवत्कर्तृत्वा-
नुपत्तेः, इदं मे सुखसाधनं दुःखसाधनं चेति बुद्ध्या खलु
किञ्चिदात्मा जिवृक्षति वा जिहासनि वा ग्रहणाय हानाय वा
प्रयत्मानः पूर्वानुभवसंस्कारात्कार्यस्योपादाता हाता वा कर्त्तो-
च्यते सुखदुःखे च यदात्मनो भिन्ने स्यातां खादेरिव न तदा

सुखदुःखे पुंस एवेति नियमः सिध्येत् । तयोः पुंसि समवा-
यात्पुंस एव सुखदुःखे न पुनः खादेरिति चेत् , कुतस्तयोः
पुंस्येव समवायः स्यात् । मयि सुखं दुःखं चेति बुद्धेरिति
चेत् , सा तर्हि बुद्धिः पुनरात्मन्येवेति कुतः सिध्येत् । समवा-
यादिति चेत् , कुतस्तस्यास्त्रैव समवायो न च गगनादाविति
निश्चेतव्यं । मयि बुद्धेरिति बुद्ध्यंतरादिति चेत् , तदपि
बुद्ध्यंतरमात्मन्येवेति कुतः ? समवायादिति चेत् , कुतस्तस्या-
स्त्रैव समवाय इत्यादि पुनरावर्त्तत इति चक्रकप्रसंगः । यस्य
यद्बुद्धिपूर्वकाविच्छाद्वेषौ तत्र तद्बुद्धेः समवाय इति चेत् , कुतः
पुंस एव बुद्धिपूर्वकाविच्छाद्वेषौ न पुनः खादेरिति निश्चयः ?
पुंस एव प्रयत्नादिति चेत् , प्रयत्नोऽप्यात्मन एवेति कुतः संप्र-
त्ययः ? प्रवृत्तेरिति चेत् सा तर्हि प्रवृत्तिरूपादानपरित्याग-
लक्षणा कुशला वाऽकुशला वा पनोवाकायनिमित्ता प्रयत्न-
विशेषं बुद्धिपूर्वकमनुपाययंती पुंस एवेति कुतः साध्येत् ?
शरीरादावचेतने तदसंभवात्पारिशेष्यादात्मन एव सेति चेत् ,
नात्मनोऽपि स्वयमचेतनत्वाभ्युपगमात् । चेतनासमवायादात्मा
चेतन इति चेत् , न स्वतोऽचेतनस्य चेतनासमवाये खादि-
ष्वपि तत्प्रसंगात् , स्वतश्चेतनत्वे चेतनासमवायवैयध्यर्थात् ।
स्वरूपचेतनया साधारणरूपया चेतनस्य साधारणचेतनासमवाय
इति चेत् , नासाधारणचेतनायाः पुंसोऽनर्थान्तरत्वे साधारण-
चेतनाया अप्यनर्थान्तरत्वमतिप्रसंगाचेतनाविशेषसमान्ययोः
पुंसस्तादात्म्यसिद्धौ च परमतानुसरणं दुर्निवारं । चेतनावि-

शेषस्यापि चेतनासामान्यवदात्मनोऽर्थान्तरत्वे कुतो न गगना-
देविशेषोऽचेतनत्वादिति शरीरादाविव पुंस्यपि प्रवृत्तिर्न सि-
ध्येत्तदसिद्धौ न तत्रैव प्रयत्नसिद्धिरिच्छादेषसिद्धिर्वा सुख-
दुःखबुद्धिश्चेति न कर्ताॽत्मा सिद्धेत्, कार्यं वा यतः कालांतरस्ये
बुद्ध्यादौ कर्तृकार्ये न विरुद्ध्येते क्षणस्थितिबुद्ध्यादिवत् ।

अथवा महदादिः कालांतरस्याधी नित्यात्मधानादपृथग्भूतः
पृथग्भूतो वा ? प्रथमपक्षे न कर्तृकार्ये, विकारस्य हानेः, कर्तृ
व्याहारं, कार्यं महदादिव्यक्तं, तयोश्चापृथग्भावे यथा प्रधानमवि-
कारि तथा महदादिव्यक्तमपि तदपृथक्त्वात् प्रधानस्वरूपवत्
तथा च न कार्यं प्रधानवत्, कार्यभावे च कस्य कर्तृ प्रधानं
स्याद्विकारस्य कार्यस्याभावात् ततो नापृथक्त्वे व्यक्ताव्यक्त-
योः कर्तृकार्ये व्यक्ताव्यक्ते स्यातां । द्वितीयपक्षेऽपि न कर्तृकार्ये,
तथा हि—न प्रधानं कर्तृ महदादिकार्यात् पृथग्भूतत्वात्
पुरुषवत्, विपर्ययप्रसंगो वा महदादिच न कार्यं कर्तुरभा-
शात्पुरुषवत् । न हि प्रधानं महदादेः कर्तृ तस्याविकारित्वात्पुरु-
षवदिति नासिद्धः कर्तुरभावः । यदि पुनर्व्यक्ताव्यक्तयोरपृथ-
क्त्वपृथक्त्वभ्यामवाच्यता स्त्रीक्रियते तदाऽप्यपृथक्त्वपृथक्त्वा-
वचनीयतायां न कर्तृकार्ये विकारस्य हानेः पुरुषभोक्तृत्वादि-
वत् । पुरुषाद्वि भोक्तृत्वादिरपृथक्त्वपृथक्त्वाभ्यामवच-
नीयोऽन्यथा तदपृथक्त्वेन भोक्ता नित्यः सर्वगतोऽक्रियो
निर्गुणोऽकर्त्ता शुद्धो वा सिद्धेत् पुरुष एव भोक्तृत्वनित्य-
त्वसर्वगतत्वाक्रियत्वनिर्गुणत्वाकर्तृत्वशुद्धत्वधर्माणामन्तर्भावा-

त । तेषां पुरुषात्पृथग्भावे वा स एव दोषः स्यात् भोक्तृत्वादि-
भ्योऽन्यस्य भोक्तृत्वादिविरोधात् । प्रधानबदपृथक्त्वपृथक्त्वा-
भ्यापवचनीयत्वे च न कर्त्तात्मा भोक्तृत्वादेनापि भोक्तृत्वादिः
कार्यं पुरुषस्येति नोदाहरणं साध्यसाधनविकलं कर्तृकार्यत्वाभा-
वसाधनस्य विकाराभावस्य साध्यस्य पृथक्त्वापृथक्त्वावचनीयत्व-
स्य च साधनस्य सञ्चावात्, ततो यत्रानन्यत्वान्यत्वाभ्यापवच-
नीयता तत्र विकारहानिः साध्यते । यत्र च विकारहानिस्तत्र
कर्तृकार्यत्वाभाव इति कालान्तरस्थेऽपि महदादौ न कर्तृकार्ये ।
पृथक्त्वापृथक्त्वावचनीयताया विकारहानेरिति वाक्यमेदेनापृथ-
क्त्वे पृथक्त्वे च व्यक्ताव्यक्तयोरपृथक्त्वपृथक्त्वाभ्यापवचनी-
यतायां चेति पक्षत्रयेऽपि दृषणं योजनीयम् । तथा च सांख्या-
नामपि जिन ! तत्र विद्विषां वृथा श्रमः सकलो यपनियपास-
नप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणासमाधिलक्षणयोगांगानुष्टान-
प्रयासः खेदो वृथैव स्याद्वैशेषिकनैयायिकानामिवेति वाक्या-
र्थः । तदेवं समंतदोषं पतमन्यदीयमिति समर्थितं । जिन !
त्वदीयं पतमद्वितीयमिति प्रकाशितं च । ततस्त्वमेव पहा-
नितीयत्प्रतिवक्तुमीशा एव वयमिति प्रकृतसिद्धिः ।

साम्प्रतं चार्वाकमतमनूद्य दृष्यन्ति—

मद्यांगवद् भूतसमागमे ज्ञः

शक्त्यन्तरव्यक्तिरदैवसृष्टिः ।

इत्यात्मशिश्नोदरपुष्टितुष्टे-

निर्दीर्घभयैर्हा ! मृदवः प्रलब्धाः ॥३५॥

टीका—मध्यांगानि पिण्डोदकगुडधातक्यादीनि तेष्विक-
तद्देतुभूतानि पृथिव्यसेजोवायुतत्त्वानि तेषां समागमः समुदाय-
स्तस्मिन्सति ज्ञशेतनः परिणापविशेषः सुखदुखहर्षविषादादि-
विवर्त्तात्मको गर्भादिपरणपर्यन्तः प्रादुर्भवत्यविर्भवति वा
कार्यवादाभिव्यक्तिवादाश्रयिणामिति भावः । पृथिव्यसेजो-
वायुरिति तत्त्वानि तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञास्तेभ्यश्चै-
तन्यमित्यत्र सूत्रे कार्यवादिभिरविद्धकर्मादिभिरस्तत्यते इति
क्रियाध्याहारात्, तथाऽभिव्यक्तिवादादिभिः पुरंदरादिभिरभि-
व्यजयत इति क्रियाध्याहारात् । भूतसमागमे ज्ञ इति भूतसमु-
दायस्य परंपरया कारणत्वपभिव्यंजकत्वं वा प्रत्येयं । साक्षा-
च्छरीरेन्द्रियविषयसंज्ञेभ्य एव ज्ञस्योत्पादाभिव्यक्तिवचनात्
अहं चक्षुषा रूपं जानामीति ज्ञातुः प्रतीतेस्तेषामन्यतपस्याध्य-
पाये इस्पाप्रतीतेज्ञानक्रियायाः कर्तृकरणं कर्मनान्तरीयकत्वात् ।
तत्र शरीरसंज्ञस्य कर्तृत्वाच्चैतन्यविशिष्टकायव्यतिरेकेणापरस्या-
त्पनस्तत्त्वांतरस्य कुतश्चित्प्रमाणादप्रतिपत्तेश्चक्षुरादीद्रियसंज्ञस्य
करणत्वाच्चैतन्यविशिष्टेन्द्रियव्यतिरेकेण करणस्याऽसंप्रत्ययात् ।
विषयसंज्ञस्य वा कर्मत्वात्तस्य ज्ञेयतयाऽस्तितत्त्वात् । न च
मृतशरीरेन्द्रियविषयेभ्यश्चैतन्यस्यानुदयदर्शनातेभ्यश्चैतन्यमिलि
दुःसाधनं, चैतन्यविशिष्टानामेव जीवशरीरेन्द्रियविषयसंज्ञानां
संज्ञाननिबन्धनत्ववचनात्, कुतः पुनर्भूतानां सर्वेषामपि समागमे

१ क पुस्तके 'अविद्धकर्मादिभिः' नास्त्वयंवाठः ।

शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा असंभवत्यः प्रतिनियम्यते ? शरीराद्यारं-
भक्भूतानामैव समुदाये सति संभवति न पुनः पिठादिभूत-
समुदय इति न चोद्यं तेषां शक्तयन्तरव्यक्तेः । यथैव हि पद्मां-
गानां पिण्डोदकादीनां समागमे मद्दहेतोः शक्तयन्तरस्य व्यक्ति-
स्तथा पृथिव्यादिभूतानां ज्ञानहेतोः शक्तयन्तरस्य व्यक्तिः
स्यात् । तर्हि शक्तयन्तरव्यक्तिप्रतिनियतेष्वैव भूतेषु समुदितेषु
संभवन्ती दैवनिमित्ता स्यात्, दृष्टारणव्यभिचारदिति च न
शंकनीयं दैवस्य तत्सृष्टिनिमित्तस्य कादाचित्कृतया दैवान्त-
रात्सृष्टिप्रसंगात् । यदि पुनर्दैवव्यक्तिः कादाचित्कृतस्यपि स्वा-
भाविकीति न तस्या दैवात्सृष्टिः परस्मादन्यथानवस्थाप्रसंगा-
दिति मतं तदा शक्तयन्तरव्यक्तिरप्यदैवसृष्टिः सिद्धा सुदूरम-
पि गत्वा स्वभावस्यादश्यमाश्रयणीयत्वात् । शक्तयन्तरं हि
शक्तिविशेषोऽन्तरशब्दस्य विशेषवाचिनः प्रयोगात् ततो यथा
पद्मांगानां समागमे कालविशेषविशिष्टे पात्रादिविशेषविशिष्टे
चाऽविकलेऽनुग्रहते च मद्जननशक्तिविशेषव्यक्तिरप्यदैवसृष्टि-
र्दृष्टा पद्मांगानामसाधारणानां साधारणानां च समागमे सति
स्वभावत एव भावात्, तथा ज्ञानहेतुशक्तिविशेषव्यक्तिरप्य-
दैवसृष्टिरेव ज्ञानांगानां भूतानामसाधारणानां च समागमे सति
स्वभावत एव भावात्, ज्ञानजननसमर्थस्यैव कललादिशरीर-
स्यासाधारणस्य शरीरसंज्ञत्वचनात्तथा ज्ञानक्रियायां साधक-
तमस्यैवेन्द्रियस्यासाधारणस्येन्द्रियसंज्ञत्वसिद्धेर्विषयस्य च ज्ञा-
नक्रियाश्रयस्यैवासाधारणस्य विषयसंज्ञत्वोपपत्तेन सर्वे श-

श्रीरादयः शरीरादिसंज्ञात्वं लभन्ते यतः प्रतिनियमो न स्या-
लालाहारादेरेव साधारणस्यानियमात्ततो इष्टनियतानियत-
कारणसुष्टित्वाच्चैतन्यशक्त्यभिव्यक्तेन सा दैवसुष्टिर्पदशक्त्य-
भिव्यक्तिवद्विरेचनशक्त्यभिव्यक्तिवदा, हरीतक्यादिसमुदये न
हि देवतां प्राण्य हरीतकी विरेचयतीति युक्तं वक्तुं कदाचि-
त्तः कस्यचिदविरेचनेऽपि हरीतक्यादियोगस्य पुराणात्वादिना
शक्तिवैकल्यस्यैव सिद्धेरुपयोक्तुः प्रकृतिविशेषस्य चाप्रती-
तेरिति यैरभिमन्यते तैर्मृदवः प्रलब्धाः, सुकुमारप्रज्ञानामेव
मृदूनां विप्रलंभयितुं शक्यत्वात् । कीदृशैस्तैर्निर्हीभयैः शिश्नो-
दरपुष्टुर्ष्टरिति । ये हि खीपानादिव्यसनिनो निर्लज्जा निर्भ-
यास्त एव मृदून् विप्रलंभते परलोकिनोऽभावात् परलोका-
भावः पुरुषपापकर्मणस्तु दैवस्याभावात् तत्साधनस्य शुभा-
शुभानुष्टानस्याभाव इति यथेष्टुं प्रवर्त्तितव्यं, तयःसंयमादीनां
च यातनाभोगवंचनपात्रत्वादग्निहोत्रादिकमर्णोऽपि बालक्री-
होपमत्वात् । तदुक्तम्—

तपांसि यातनाश्चित्राः संयमो भोगवंचकः ।

अग्निहोत्रादिकं कर्म बालक्रीडेव लक्ष्यते ॥

श्रुते नानाविधविप्रलंभनवचनसञ्चायात् । परमार्थतोऽनादिनिध-
नस्योपयोगलक्षणस्यात्मनो इस्य प्रमाणतः प्रसिद्धेः भूतसमागमे
ज्ञ इति व्यवस्थापयितुमशक्तेः । तानि हि पृथिव्यादीनि भूतानि
कायाकारपरिणतानि संगतान्यपि अविकलानुशहतवीर्याणि
चैतन्यशक्तिं सर्तामेव प्रागसतीमेव वाऽभिव्यंजयेयुः सदसर्ती

वा ? गत्यंतराभावात् । पथपकल्पनायामनादित्वसिद्धिरनंतत्य-
सिद्धिश्च चेतनाशक्तेः सर्वदा सत्या एवाभिव्यक्तिसिद्धेः । तथा
हि—कथंचिन्नित्या चैतन्यशक्तिः सदकारणात्वात्पृथिव्यादि-
सामान्यवत् न पृथिव्यादिव्यक्तयानेकान्तस्तस्यास्तसत्त्वेऽपि
सकारणात्वात्, नाऽपि प्रागभावेन व्यभिचारस्तस्याकारणत्वेऽ-
पि सदूषत्वासिद्धेस्ततः समुदितो हेतुर्न व्यभिचारी सर्वथा वि-
पक्षाद्यात्तिवात् तत एव न विरुद्धो, नाप्यसिद्धः सतोऽभिव्य-
ग्यस्य सदकारणात्वसिद्धेरभिव्यञ्जकस्याकारणात् । ननु च
मद्यांगैः पिण्डोदकादिभिरभिव्यज्यमानाऽपि मदशक्तिः प्राक्सती
न नित्या भ्युपेयते ततस्तया सदकारणया व्यभिचार एव हेतोरिति
चेत्, न तस्या अपि कथंचिन्नित्यत्वसिद्धेशेतनद्रव्यस्यैव मद-
शक्तिस्त्रभावत्वात् सर्वथाऽप्यचेतनेषु मदशक्तेरसंभवात् । मनसो
मदशक्तिरिति चेत्, न तस्याऽप्यचेतनत्वाद्यावमनस एव चेतनस्य
मदशक्तिसंभवात् । एतेनेन्द्रियाणामचेतनानां मदशक्तेरसंभवः
प्रतिपादितः । भावेन्द्रियाणां तु चेतनानामेव मदशक्तिसंभा-
वनायां न किञ्चिदचेतनद्रव्यं मात्रते नाम मद्यभाजनस्यापि
मदप्रसंगात् । न चैव मुक्तानामपि मदशक्तिः प्रसङ्गते तेषां
तदभिव्यक्तिकारणासंभवात् । मदशक्तेर्हि वहिंगकारणमभि-
व्यक्तौ मद्यादि चेतनस्यात्मनस्तस्यानियतत्वात् । अन्तरंगं तु
कारणं मोहनीयाख्यं । न च मुक्तानां तदुभयकारणपस्ति यत-
स्तेषां मदशक्तेरभिव्यक्तिः स्यात् । तत्रानभिव्यक्ता मदशक्ति-
रस्त्वति चेत्, सा यदि चैतन्यद्रव्यरूपा तदास्त्येव, मोहो-

दयरुपा तु न संभवति मोहस्यात्यंतपरिक्षयात्कर्मान्तरवत्, तज्ज
मदशक्त्या व्यभिचारः साधनस्य, पदजननस्य शक्त्या मरुरांग-
समग्रमेनाभिव्यज्यमानया सत्या कारणाया व्यभिचार इति चेत्,
न तस्याः सुरांगसमागमकार्यत्वात्, ततः पूर्वे प्रत्येकं पिष्टा-
दिषु तत्सज्जावावेदकप्रमाणाभावात् । एतेन मोहोदयनिमि-
त्त्याऽस्त्मनो मदशक्त्या पराभ्युपगतया व्यभिचारोऽज्ञावनपा-
स्तं तस्याश्च मोहोदयकार्यत्वात्तदीणमोहस्यासंभवात् ततो
निरवद्यो हेतुश्चैतन्यशक्तिर्नित्यत्वसाधने सदकारणात्वादिति
सिद्धः परलोकित्वमनिच्छतां न सती चैतन्यशक्तिरभिव्य-
ज्यत इति वक्तव्यं । यदि पुनः प्रागसती चैतन्यशक्तिरभिव्य-
ज्यते तदा (कं) प्रतीतिविरोधः सर्वथाप्यसतः कस्यचिद-
भिव्यक्त्यदर्शनात् । कथंचित्सती वासती वाऽभिव्यज्यत इति
चेत्, परपतसिद्धिः, कथंचिद्द्रव्यतः सत्याऽचैतन्यशक्तेः पर्या-
यतश्चासत्याः कायाकारणपरिणतपुद्गलैरभिव्यक्तेरभीष्टत्वात्स्या-
द्वादिभिस्तो विश्लेष्या एव चैतन्यशक्त्यभिव्यक्तिवादिभिः
सुकुपारपद्माः, सर्वथा चैतन्याभिव्यक्तेः प्रमाणाबाधितत्वात् ।
येषां तु भूतसमागमकार्यं चैतन्यशक्तिस्तेषां सर्वचैतन्यशक्ती-
नामविशेषप्रसंगात् प्रतिप्राणि बुद्ध्यादिचैतन्यविशेषो न
स्थात् ।

प्रतिसत्त्वं भूतसमागमस्य विशिष्टत्वात्तद्विशेषसिद्धिरिति
वदन्तं प्रति प्राहुः सुरयः--

१ “क” निहात् ‘ख’ चिह्नपर्यन्तः पाठः प्रथमपुस्तके न वर्तते ।

**दृष्टविशिष्टे जननादिहेतौ
विशिष्टता का प्रतिसत्त्वमेषाम् ।
स्वभावतः किं न परस्य सिद्धि-
रतावकानामपि हा प्रपातः॥३६॥**

टीका—दृष्ट एवाविशिष्टे हेतौ पृथिव्यादिसमुदये तन्नि-
मिते वा शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञेऽभ्युपगम्यमाने दैवसमुद्रेनभ्युप-
गमात् का नाम विशिष्टता सत्त्वं सत्त्वं प्रति भूतसमागमस्य
स्यात्, न काचिद्विशिष्टता संभवतीत्यर्थः । स्वभावत एव
विशिष्टभूतानामिति चेत्, (ख) परस्याऽपि पृथिव्यादि-
भूतेभ्योऽन्यस्यापि पंचमस्यात्मतत्त्वस्य सिद्धिः किं न स्यात्
कि भूतकार्यचैतन्यवादेन ?

स्यान्मतं, कायाकारपरिणतभूतकार्यत्वाचैतन्यस्य स्वभा-
वतः सिद्धिस्तर्हि भूतानि किमुपादानकारणं चैतन्यस्य सह
कारिकारणं वा ? यद्युपादानकारणं तदा चैतन्यस्य भूतान्वय-
वसंगः सुवर्णोपादाने किरीटादौ सुवर्णान्वयवत् । पृथिव्याद्यु-
पादाने वा काये पृथिव्याद्यन्वयवत् । प्रदीपोपादानेन कज्जलेन
प्रदीपानन्वितेन व्यभिचार इति चेत्, न कज्जलस्य प्रदीपो-
पादानत्वासिद्धेः । प्रदीपञ्चाला हि प्रदीपञ्चालान्तरस्योपादानं
न कज्जलस्य, तस्य तैलवर्त्युपादानत्वात्, प्रदीपकलिकां सहका-
रिणीमासाद्य तैलं कज्जलरूपेण परिणमदूर्ध्वं गच्छदुपलभ्यते ।
न च तत्त्वान्वितं रूपादिभिः समन्वयदर्शनात् । एकस्य

पुद्गलद्रव्यस्य तैलरूपतां परित्यज्य कञ्जलरूपतापासाद् यतः
प्रदीपसहकारिविशेषवशाद्रूपादिनान्वितस्य प्रतीतिसिद्धस्यान्य-
या वक्तुमशक्तेः, त्यक्तात्यक्तात्परमस्य पूर्वपूर्वेण वर्तमानस्य
कालत्रयेऽपि विषयस्य द्रव्यस्थोपादानत्वसिद्धेः । तदुक्तम्—
त्यक्तात्यक्तात्परम् यत्पूर्वपूर्वेण वर्तते ।

कालत्रयेऽपि तद्द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् ॥

न चैवं भूतसमुदायः पूर्वमचेतनाकारं परित्यज्य चेतना-
कारं शृङ्खलं धारणेरेणाद्रव्येणातालक्षणेन भूतस्वभावेनान्वितः
संलक्ष्यते चैतन्यस्य धारणादिस्वभावरहितस्य संवेदनात् ।
न चात्यंतविजातीयं कार्यं कुर्वण्णः क्षिचिदर्थः प्रतीयते पार-
दादिः पारदीयं कुर्वन्नपि नात्यंतविजातीयं कुरुते रूपादित्वेन
सजातीयत्वात्, तर्हि चैतन्यपरिषिद्धिः प्रतीयते पारदीय-
स्यादिति चेत्, किमिदानीं जलानलादीनां परस्परमुपादा-
नोपादेयभावो न भवेत् तत एव तेषां तत्त्वान्तरत्वात् । धारणा-
शमाधारणपरस्परविलक्षणत्वात्त्रोपादानोपादेयभाव इति चेत्,
किमेवं भूतचैतन्ययोग्यसाधारणलक्षणयोः परस्परविलक्षणयो-
रुपादानोपादेयभावोऽभ्यनुज्ञायते । धारणादिलक्षणं हि भूत-
चतुष्टयमुपलभ्यते न चैतन्यं तदपि ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणमुप-
लक्ष्यते न भूतचतुष्टयमिति न परस्परविलक्षणलक्षणत्वं
भूतचैतन्ययोरसिद्धं ततो नोपादानोपादेयभावो युक्तः । सा-
धारणासत्त्वादिधर्मसाधर्म्यमात्रात्ययोरुपादानोपादेयत्वेऽतिप्रसं-

गस्य दुर्निवारत्वात् । यदि पुनः सहकारिकारणं भूतसमुदय-
श्चैतन्योत्पत्तौ प्रतिपाद्यते तदोपादानकारणमन्यद्वाच्यं, निरु-
पादानस्य कस्यचित्कार्यस्यानुपलब्धेः । शब्दविद्युत्प्रदीपादि-
वन्निरुपादानं चैतन्यमिति चेत्, न, तस्यापि स्थोपादानत्व-
सिद्धेः । तथा हि स्वेषदानकारणपूर्वकः शब्दादिः कार्यत्वा-
त्पटादिवत् । किं पुनस्तस्योपादानं तात्पादिसहकारिव्यति-
रिक्तं दृष्टमिति चेत्, शब्दादिपुद्गलद्रव्यमिति ब्रूमस्तथा हि
शब्दादिः पुद्गलद्रव्योपादान एव वाहेद्यन्दियप्रत्यक्षत्वात् घटवत् ।
सामान्येन व्यभिचार इति चेत्, न, तस्यापि मूर्च्छद्रव्याधारस्य
सद्वशपरिणामलक्षणस्य वाहेद्यन्दियग्राहयस्य पुद्गलद्रव्योपा-
दानत्वसिद्धेः । तथा सति सामान्यस्यानित्यत्वपसंगः इति
चेत्, कथंचिदिष्टत्वाददोष इति सर्वथा नित्यस्य सामान्य-
स्य स्वप्रत्ययहेतुत्वनिरोध त् । द्रव्येण संग्रहनयविषयेण सा-
मान्येनानेकांत इति चेत्, न तस्याप्यर्तान्दियस्य वाहेन्द्रिया-
ग्रत्यक्षत्वात्तेन व्यपिचराभावत् । यत्र वाहेन्द्रियाद्य
पुद्गलस्कंधद्रव्यं व्यवहारनयसिद्धं तत्सूक्ष्मपुद्गलोपादनमेवेति
कथं तेनानेकांत इति च । ततो नानुपादानं शब्दादिकमस्ति
यतस्तदृत्सहकारिमः त्राचैतन्यमनुपादानहृत्यते इति प्रपञ्चेमहि ।
न चोपादानसहकारिपक्षद्रव्यव्यतिरेकेण किञ्चित्कारणमस्ति येन
भूतचतुष्टयं चैतन्यस्य जनकमुररीक्रियते । ततः स्वभावत एव
चैतन्यस्य सिद्धिरस्तु पृथिव्यादिभूतविशेषवदिति तत्त्वान्तर-
सिद्धिस्तामपन्हवानामतावकानां दर्शनमोहोदयाकुलितचेतसां

जीविकामात्रतंत्राणां विचारयतामपि हा ! कष्टं प्रकृष्टः
पातः संसारसमुद्रावर्चिपतनलक्षणः संज्ञात इति सूरयः करु-
णाविपयत्वं दर्शितवन्तः ।

दीक्षात एव मुक्तिरिति मन्यमानान्मंत्रिणः प्रत्याहुः—
स्वच्छन्दवृत्तेर्जगतः स्वभावा-
दुच्चैरनाचारपथेष्वदोषम् ।
निर्धुष्य दीक्षासममुक्तिमाना-

स्वदृष्टिवाह्या वत विभ्रमंति ॥ ३७ ॥

टीका—हिंसाऽनुतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहा उच्चैरनाचारपथाः
यं च महापातकानि तेष्वनुष्टीयपानेष्वप्यदोषं निधोषयन्ति के-
चित्, स्वभावत एव जगतः स्वच्छन्दन्देन वृत्तेरित्युपपत्तिमाचक्षते ।
तथा हि—जगतोऽनाचारपथा महान्तोऽपि न दोषहेतवः स्व-
भावतो यथेच्छन्दवर्तमानत्वात् प्रसिद्धं नीवन्मुक्तवदिति निर्धु-
ष्य दीक्षासमकालां मुक्तिं मन्यन्ते । दीक्षया समा समकाला
दीक्षासमा सा चासौ मुक्तिश्च सा दीक्षासममुक्तिस्तस्यां मानोऽ-
भिमानो येषां ते दीक्षासममुक्तिमाना इनि पदघटना । ते च त्व-
दृष्टेष्वप्योक्षतत्कारणनिश्चयनिवंशनस्याद्वादर्दशनात् वाह्याः
सर्वथैकांतवादित्वात् विभ्रमंत्येव केवलं वत कष्टं, पुनस्तत्त्वनिश्चयं
नासादयन्तीत्यर्थः । दीक्षा हि मंत्रविशेषारोपणमुपसन्नमनसी-
ष्यते, सा च यदि यमनियमसहिता तदा त्वदृष्टिरेवेति भग-
वदर्दशनादवाहा एव दीक्षावादिनस्तथा तत्त्वविनिश्चयप्राप्तेः ।

अथ यमनियमरहिता दीक्षा कक्षीक्रियते तदा न सा दोषविपक्ष-
भूताऽनाचारप्रतिपक्षभूता वा यतोऽनाचारक्षयकारिणी स्यात्,
न चानाचारक्षयकारणमन्तरेण दीक्षासमकालमेव मुक्तिर्युक्ति-
मवतरत्यतिप्रसंगात् । स्यान्मतिरेषा भवतां समर्था दीक्षोच्चैर-
नाचारपथमयनपटीयसी न पुनरसमर्था यतो दीक्षासमये एवा-
ऽनाचारनिराकरणमुपसन्नजनानामनुषज्यत इति साऽपि न
श्रेयसी दीक्षायाः सामर्थ्येऽपि तत्समकालं मुक्त्यनवलो-
कनात् । तथा हि—सामर्थ्यं दीक्षायाः स्वभावभूतमर्थान्तर-
भूतं वा ? स्वभावभूतं चेत्, कथं कदाचित् कचित् कस्याश्चि-
देव स्यात् । दीक्षातोऽर्थान्तरभूतं सामर्थ्यमिति चेत्
तत्किं कालविशेषरूपं देशविशेषरूपं दक्षिणादिविशेषरूपं
वा ? कालविशेषरूपं चेत्, न, तिथिवारनक्षत्रवेलादिकाल-
विशेषस्याविशेषेऽपि कस्यचिद्दीक्षासमकाले मुक्त्यदर्शनात् ।
क्षेत्रविशेषसामर्थ्यमिति चेत्, न तीर्थस्नानदेवतालयमंड-
लादिविशेषसाम्येऽपि कस्यचिन्मुक्त्यभावात् । दक्षिणादिवि-
शेषरूपं सामर्थ्यमिति चेत्, न, गुरुदक्षिणायां यथोक्तायां
सत्यामपि विनयप्रणामननमस्कारात्मसमर्पणसद्वावेऽपि चो-
च्चैरनाचारपथप्रवृत्तिर्दर्शनात् । सकला सामग्री श्रद्धाविशेषो-
पगृहीतद्रव्यगुणकर्मलक्षणा निवर्त्तकर्थमविशेषजनिका दीक्षायाः
सामर्थ्यमिति चेत्, कः पुनः श्रद्धाविशेषो नाम ? हेये जिहासा
ञ्चशुदुपादेये चोपादित्सा श्रद्धाविशेष इति चेत्, तर्हि हेयं
हुःखमनारतं तत्कारणं च मिथ्यादर्शनं रागादिदोषश्चेति

कथमनाचारपथेष्वदोषो निर्धुष्यते । अद्वाविशेषश्च सम्यग्दर्शनं तदनुशृणीता दीक्षा सम्यज्ञानपूर्विका सम्यक्चारित्रमिति सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयादेव सात्मीभावमापन्नान्मुक्तिरुक्ता स्थान्तथा च त्वद्वृष्टिरेव श्रेयसी । तद्वाहास्तु विभ्रपन्त्येवेति मूलकम् ।

अथवा दीक्षासं यथा भवन्येवममुक्तिमाना पीपांसकास्त्वद्वृष्टिवाहा वत कष्टं विभ्रमंति ! किं कुत्वा उच्चैरनाचारपथेष्वदोषं निर्धुष्य—

“न पांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।”

इति वचनात् । कुतः ? इत्युपपत्तिमाचक्षते-स्वच्छन्दवृत्तेजगतः स्वभावादिति प्रवृत्तिरेव भूतानामिति वचनात्, न कदाचिदनीहर्शं जगदित्यभ्युपगमात् । कुतस्तेषां विभ्रम इति चेत्, दोषेऽप्यदोषनिर्घोषणात् वेदविहितेषुचैरनाचारपथेषु पशुवधादिष्वदोषो निर्धुष्यते न पुनर्वेदवादेषु ब्रह्महत्यादिषु तत्र दोषस्यैव निर्घोषणात्, “ब्राह्मणो न हन्तव्यः सुरा न पातव्येति” निषेधवचनात् । स्वच्छन्दवृत्तेरपि जगतः स्वभावाद्वेदेन श्रेयः-प्रत्यवायसाधनप्रकाशिना नियमितत्वात्, तथा वेदविहितदीक्षायाश्रापतिक्षेपात् पांखडिदीक्षाया एव निरसनात् । नामुक्तिमानाः श्रोत्रियाः परमब्रह्मपदावासिलक्षणस्य मोक्षस्यानंदरूपस्य तैः स्वयमभ्युपगमात् । अनंतज्ञानादिरूपाया एव मुक्तेनिराकरणादिति केचित् तेऽपि स्वगृहमान्या एव, वेदविहितेष्वप्यनाचारेषु दोषाभावस्य व्यवस्थापयितुमशक्तेः । खारपटिकज्ञा-

स्वचिहितेषु सधनगमिणीविधादिषु दोषाभावानुषंगात् । खार-
षटिकागमज्ञानस्याप्यप्रमाणत्वात् तद्विहितेष्वनाचारेषु दोषा-
भावप्रसंग इति चेत्, वेदज्ञानस्य कुतः प्रामाण्यं येन तद्वि-
हितेषु पशुवधादिषु दोषाभावो व्यवतिष्ठते । दोषवर्जितैः
कारणैर्जन्यपानत्वादिति चेत्, न स्वरूपेऽपि वेदज्ञानस्य प्रामा-
ण्यप्रसंगात्, दोषाश्रायपुरुषेणाकृतस्य स्वरूपवादस्यापि सिद्धेः।
तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं वाधवर्जितम् ।

अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्पतम् ॥

कार्यवादवत् दोषवर्जितैः कारणैर्जन्यपानत्वाविशेषात्
वाधवर्जितत्वाच्चोदनाज्ञानस्य प्रामाण्यमिति चेत्, नासि-
द्धत्वादनाचारविधायिनश्चोदनाज्ञानस्य वाधसञ्चावात् । तथा
हि—पशुवधादयः प्रत्यवायहेतव एव प्रमत्तयोगात्प्राणातिपाता-
दित्वात् खरपटागमविहितसधनवधादिवत् । प्रमत्तयोगोऽसिद्ध
इति चेत् न, कार्यानुष्टानस्य रागादिप्रमादपूर्वकस्य प्रमत्त-
योगमनिवृद्धनत्वात् । सत्यपि रागादिप्रमादयोगे पशुवधादिषु
प्रत्यवायासंभवे सधनवधादिष्वपि कुतः प्रत्यवायः संभाव्यते-
सर्वथा विशेषाभावात् । पशुवधादीनां स्वर्गादिश्रेयःसाधन-
त्वात् प्रत्यवायसाधनत्वमिति चेत्, न सधनवधादीनामपि धनै-
श्वर्यादिश्रेयःसाधनत्वात् प्रत्यवायहेतुत्वं पा भूत, तदात्व-
स्तोकश्रेयःसाधनत्वेऽपि सधनवधादीनां पारत्रिकवृहत्प-
त्यवायसाधनत्वमपि विरुद्धभेवेति चेत्तर्हि पशुवधादीनामपि
पशुलाभार्थलाभादिस्वत्यश्रेयःसाधनत्वेऽपि पारत्रिकवृहत्पत्य-

त्रायसाधनत्वादेव स्वर्गादिश्रेयः साधनत्वं माभूद्विरोधात् ।
 क्रत्विगादिदक्षिणाविशेषादीनानाथसकलजनानं दिदानविशे-
 षाच्च श्रद्धापूर्वकव्रतनियमाभिसंबंधाच्च यजमानस्य स्वर्गा-
 दिश्रेयः साधनत्वं पशुवधेऽपि न विरुद्ध्यत इति चेत् किमेवं
 पशुवधादिना, दक्षिणादिभ्य एव श्रेयः संप्राप्तेस्तदभावे
 प्रत्यवायस्यैव सिद्धेस्तस्य श्रेयः साधनत्वासंभवात् । कथं
 चायं सधनवधकादीनामपि दानादिविधायिनां धर्माधिभि-
 संधिश्रद्धाविशेषशालिनां स्वागमविहितमार्गादिगामिनां स्व-
 गादिश्रेयः प्राप्तिपतिषेष्वसपर्थः । ननु च धर्माभिसंघीनां
 सधनवधादिरधर्महेतुविरुद्ध इति चेत्, पशुवधादिस्ताद्वक् कथ-
 मविरुद्धः ? तथा वेदविहितत्वादिति चेत् खरपटशास्त्रविहित-
 त्वात्सधनवधादिरपि विरुद्धो मा भूत् । धनलोभादिनिबंधन-
 त्वात् सधनवधादेव्यर्थाभिसंधिविरोधे स्वर्गादिलोभनिमित्तत्वा-
 त्पशुवधादेव्यर्थाभिसंधिविरोधोऽस्तु विशेषाभावात् । द्वष्टार्थधन-
 लोभादेव द्वष्टार्थस्वर्गादिलोभादीनां महत्त्वाच्च तन्त्रिबंधनस्यैव
 पशुवधादेव्यर्थपविरोधो महानेवेति च युक्तं वक्तुं । नन्वनंत-
 निर्वाणसुखलोभनिबंधनस्य स्वपरकायपरितापनस्थाप्येवं ध-
 र्मविरोधः कथं महत्त्वमोन स्यादिति चेत् न, योगिनां निर्वा-
 णसुखश्रद्धायामपि लोभाभावादिति ब्रूमस्तेषामात्मस्वरूप-
 प्रतिबंधिकर्मपलविगमायैव समाधिविशेषप्रवृत्तेः क्वचिलोभपा-
 त्रेऽपि निर्वाणप्राप्तिपविरोधात् । तदुक्तम्—“मोक्षेऽपि न यस्य
 कांक्षा स मोक्षमधिगच्छतीति” । तर्हि याजिकानामपि प्रत्य-

वायजिहासया नित्यनैमित्तिकचोर्वेदविहितयोः प्रवृत्तेर्न स्व-
र्गादिलोभनिवंधनत्वमिति चेत्, किमेवं खारपटिकानां दौर्गत्य-
जिहासया सधनवधादिषु प्रवृत्तिर्धनलोभनिवंधनाऽभिधीयते ?
दौर्गत्यजिहासैव धनलोभ इति चेत्, प्रत्यवायजिहासैव
स्वर्गादिश्रेयोलोभः कथं न स्यात् । न चैव योगिनां
संसारकारणकोशलोभादिनिराचिकीर्णेव निश्रेयसो लोभ
इति वक्तुं युक्तं व्याघातात्, मोक्षार्थिनां सर्वत्राप्रवृत्तेर्न
लोभनिवंधना प्रवृत्तिरिति विषमोऽयमुपन्यासः । ततः युक्त-
मिद पशुवधादियज्ञवादिनां वेदवाक्यानां वाधकपुण्यानं, पशु-
वधादयः प्रत्यवायहेतवः प्रमत्तयोगात् प्राणातिपातादित्वात्
सधनवधादिवदिति । चैत्यालयकरणादिषु नानाप्राणिगणप्रा-
णातिपातादिभिरनेकांतं इति चेत्, न प्रमत्तयोगादिति वच-
नात्, न च चैत्यालयकरणादिषु प्रमत्तयोगोऽस्ति सम्य-
क्त्वर्धनक्रियायाः समीहितत्वात्, तत्राऽपि निदानकरणे प्रत्य-
वायहेतुत्वस्याभ्यनुज्ञानात् पक्षान्तरवर्त्तित्वात् तैरनैकांतिक-
तोऽन्नावयितुं युक्ता । तत्र वाधवर्जितत्वेनाऽपि चोदनाप्रणाणं
वाधकस्य व्यवस्थितेः खारपटिकशास्त्रवत् अप्रमाणकं
चोच्चैरनाचारपथेष्वदोषं निर्योषयन्तः कथं न विभ्रमयंति
मीमांसकाः ।

इति त्वद्दृष्टिचाहानां कष्टमनिवार्यं ततस्तम एव प्रस्तुं
याज्ञिकानां सर्वचेष्टिनमिति सूरयो निवेदयन्ति—

प्रवृत्तिरक्तैः शमतुष्टिरक्तैः

रुपेत्य हिंसाऽभ्युदयाङ्गनिष्ठा । प्रवृत्तिः शांतिरपि प्ररूढं तमः परेषां तव सुप्रभातम् ॥ ३८ ॥

शीका—हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेषु नियममंतरेण प्रक-
र्षण वृत्तिः प्रवृत्तिस्तत्र रक्ता मीमांसकास्तथाऽभिनिवेशात् ।
तैरुपेत्य प्रवृत्तिं स्वयं प्रतिपद्य हिंसाभ्युदयस्य स्वर्गादेरंगं-
कारणं निष्ठा, किंभूतैस्तैः शमतुष्टिरिक्तैरिति हेतुवचनं तेन शम-
तुष्टिरिक्तत्वादित्यर्थः, कोधादिशान्तिः शमः, तुष्टिः सन्तोषः
शमेन तुष्टिः शमतुष्टिस्तया रिक्तैरिति प्रत्येयं । तदेतत्प्ररूढं
वृहत्तमं तमः परेषां यज्ञवादिनामज्ञानत्वमित्यर्थः, तथा प्रवृ-
त्तिः शान्तिरपि प्ररूढं तमः परेषां तस्याः शांतिप्रतिपक्षि-
त्वात् । प्रवृत्तिहिं रागाद्युद्रेकस्य कारणं न पुनारागादिशा-
न्तेव्यापातात् ।

स्यान्यतं, तेषां प्रवृत्तिर्देव्या, रागादिहेतुः शांतिहेतुश्च ।
तत्र या वेदवाक्येनाविहिता सा रागाद्युदयनिमित्तं यथा ब्रा-
ह्मणवधसुरापानादि । वेदविहिता तु शांतिहेतुर्यथा यज्ञे पशु-
वधादिस्तस्या अदृष्टार्थत्वात् कोधाद्युदयनिवंधनत्वाभावादिति ।
तदप्यसत् । वेदविहितायाः प्रवृत्तेः शांतिहेतुत्वनियमानुपपत्तेः
अन्यथा मात्रमुपैहि स्वसामरमुपैहीति वेदवाक्यविहिताया मात्र-
स्वसृगमनलक्षणायाः प्रवृत्तेः शांतिहेतुत्वप्रसंगात् । वेदाविहि-
तायाथ प्रवृत्तेः सत्पात्रदानादिलक्षणायाः शांतिप्रतिपक्षत्वा-

४८; । अथ मतमेतत्—परं परया प्रवृत्तिरपि शांतिहेतुरुपपद्यत एव यथा देवताराधनादिप्रवृत्तिरिति । तदप्यसंभाव्यं, वेदविहितहिसादिप्रवृत्तेः परं परया शांतिहेतुत्वानुपपत्तेः । न च शान्त्यर्थिनः शांतिप्रतिकूलेषु हिसादिषु वर्तमानाः प्रेक्षापूर्वकारिणः स्युपदाभावाय मन्यपाने प्रवर्त्तमानजनवत् । सत्पात्रदानदेवतार्चनादिषु स्वयमनभिसंधितसूच्यमपाणिव्यादिप्रवृत्तिस्तु परं परया शांतिहेतुरुपपद्यत एव दर्शनविशुद्धिपरिग्रहपरित्यागप्रधानतया तस्याः समवस्थिततादन्यथा तदभावविरोधात् । इति सूक्तमेतत् प्रवृत्तिः शांतिरिति वचनं महात्मोविजूम्भितं परेषामिति ततस्तत्वैव मतं सुप्रभातं सकलतमोनिरसनपटीयसत्वादिति सिद्धम् ।

साम्रांत्रं मतान्तरं निराचिकीर्षवः प्राहुः—

शीर्षोपहारादिभिरात्मदुःखै—

देवान् किलाराध्य सुखाभिगृद्धाः ।

सिद्ध्यन्ति दोषापचयानपेक्षा

युक्तं च तेषां त्वमृषिर्न येषाम् ॥३९॥

टीका—शीर्षोपहारः स्वशिरोबलिश्छागादिशिरोबलिर्वा । स आदिर्येषां गुग्गुलधारणमकरभोजनभृगुपतनप्रकाराणां ते शीर्षोपहारादयस्तैरात्मदुःखैर्जीवदुःखनिमित्तेवान् यस्महेश्वरादीनाराध्य सिद्ध्यन्ति दोषापचयानपेक्षा दोषापचययनपेक्षमाख्याः सुखाभिगृद्धाः कामसुखादिलोलुपाः किलेति । सूरयः प्रमा-

आनुपपन्नत्वेन रुचि प्रकाशयन्ति । केषां पुनरिदं युक्तमित्यभिधीयते—“युक्तं च तेषां त्वमृषिने येषा” मिति । येषां न त्वमृषिगुरुर्वर्तिदोषः सर्वहस्यामी न भवसि तेषामेव मिथ्याहक्षां युक्तं उपपन्नमेवैतत् प्रस्तु तमो न पुनर्येषां त्वं गुरुः शुद्धिशब्द्योः परां काष्टामधितिष्ठन्नभिमतोऽसि तेषां सम्यग्वस्तीनां हिंसादिविरन्वितेसां दयादमत्यागसमाधिनिष्ठं त्वदीयं प्रतिपद्यमानानां नयप्रमाणविनिश्चितपरमार्थयथादतारिजीवादितश्वार्थप्रतिपत्तिकुशलमनसां प्रपादतोऽशक्तितो वा कचित्प्रवृत्तिमाचरतामपि तेषां तत्राभिनिवेशपाशानवकाशात् । तदित्यं समंतदोषं मतमन्यदीयं संक्षेपतो दर्शितम् । विस्तरतो देवागमे तस्य समन्तभद्रस्वामिभिः प्रतिपादनात् “भावैकान्ते पदार्थीना” मित्यादिना । तत एव त्वदीयं मतमद्वितीयमिति च समासतो व्यवस्थितं । व्यासतो देवागमे एव तस्य तथा व्यवस्थापितत्वात् , “कथञ्जिनरो सदेवेष्टुं कथंचिदसदेकनद्” इत्यादिना तथैव स्वामिभिरमिधानात् ।

स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वारस्य निःशेषतः

संपास्य विशुद्धिशक्तिपदवीं काष्टां परामाश्रिताम् ।
निर्णीतं मतमद्वितीयपमलं संक्षेपतोऽपाकृतं

तद्वाद्यं वितर्थं मतं च सकलं सज्जीधनैर्बुद्ध्यताम् ॥

इति युक्त्यनुशासने परमेष्ठिस्तोत्रे प्रथमः प्रस्तावः ।

अथ भेदाभेदात्मकं सामान्यविशेषात्मकमर्थतत्त्वं मर्दीयं
मतपद्वितीयं नयप्रमाणप्रकृतांजसार्थत्वादस्तु नाम केवलं सामा-
न्यनिष्टाः विशेषाः स्युर्विशेषनिष्टुं वा सामान्यं स्यादुभयं वा
परस्परनिष्टुमिति भगवत्पर्यनुयोगे सूरयः प्राहुः—

“ सामान्यनिष्टा विविधा विशेषाः ” इति सामान्यं
द्विविधमूर्ध्वतासामान्यं तिर्यक्सामान्यं चेति । तत्रोर्ध्वतासामान्यं
क्रमभाविषु पर्याये एवेत्वान्वयप्रत्ययग्राह्यं द्रव्यं । तिर्यक्सामान्यं
नानाद्रव्येषु पर्यायेषु च सादृश्यप्रत्ययग्राह्यं सदृशपरिणामरूपं ।
तत्र सामान्ये निष्टा परिसमाप्तिर्येषां ते सामान्यनिष्टाः । के ते ?
विशेषाः पर्यायाः । किं प्रकाराः ? विविधाः केचित् क्रमभुवः
केचित् सहभुव एकद्रव्यवृत्तयः । तत्र क्रमभुवः परिस्पन्दरूपा
उत्क्षेपणादयः, अपरिस्पन्दात्मकाः साधारणाः साधारणासाधा-
रणाश्च असाधारणाश्चेति त्रिविधाः । साधारणाधर्माः सञ्चप्रभे-
यत्वादयः, साधारणासाधारणाः द्रव्यत्वजीवत्वादयः, असाधा-
रणाः प्रतिद्रव्यं प्रभिद्यमानाः प्रतिनियता अर्थपर्याया इति
इविविधप्रकारा विशेषा एकद्रव्यनिष्टुत्वादूर्ध्वतासामान्यनिष्टा-
स्तद्रव्यतिरेकेणासंभाव्यमानत्वात् । न वेवं विधं विशेषनिष्टुं सा-
मान्यं कस्मात्त्र स्यादिति चेत्, न, कस्यचिद्विशेषस्यापायेऽपि
सामान्यस्य विशेषान्तरेषूपलब्धेः सर्वविशेषनिष्टुत्वविरोधात् ।
कातिपयविशेषनिष्टुत्वे तु सामान्यस्य तदन्यविशेषाणां निः-
सामान्यत्वप्रसंगात् । विनष्टानुत्पद्विशेषनिष्टुत्वे सामान्यरस्य वि-
नाशानुत्पादप्रसंगो व्याहतः प्रसङ्गेत । विशेषाणां विनाशेऽपि

सामान्यस्याविनाशेनागतत्वेऽपि वर्तमानत्वे च विरुद्धधर्माध्यासात् भेदप्रसंगात् विशेषनिष्ठत्वं सामान्यस्य प्रसज्येतातिप्रसंगात् । विशेषेषु व्यक्तिरूपेषु द्रव्यगुणकर्मसु सामान्यस्य सम्बायाद्विशेषनिष्ठं सामान्यमिति चेत् न, तस्य तिर्थक्सामान्यरूपत्वात्, न चैतद्विपि विशेषनिष्ठं द्रव्यत्वस्य सकलद्रव्यव्यक्तिनिष्ठत्वे कार्यद्रव्यव्यक्तिविनाशप्रसंगात्कतिपयद्रव्यव्यक्तिनिष्ठत्वे द्रव्यव्यक्तयंतराणां निःसामान्यत्वप्रसंगस्य तदवस्थत्वात् । नित्यसर्वगतत्वात् सामान्यस्यायमदोष इति चेत्, न, सर्वव्यक्तीनां नित्यत्वप्रसंगात्तत्र नित्यसामान्यस्य निष्ठानात् । यदि पुनर्व्याप्तिकं सामान्यं (व्यक्तीनां) व्याप्त्यःस्तु व्यक्तयस्ततो व्याप्त्यभावेऽपि व्यापकस्य सञ्जावाविरोधात् सत्यपि नित्ये सामान्ये व्यक्तीनामभावाविरोधात् नित्यतापत्तिरिति पतम् तदा सामान्यनिष्ठा एव विशेषाः स्युरवस्थिते सामान्ये विशेषाणामुत्पादाद्विनाशाचेति सिद्धाः सामान्यनिष्ठा विविधा विशेषाः, न पुनर्विशेषनिष्ठं सामान्यं । एतेन परस्परनिष्ठमुभयमित्यपि पक्षः प्रतिक्षिप्तः ।

यदि सामान्यनिष्ठा विशेषास्तदा पदं किं विशेषं नयते सामान्यं वा तदुभयं वाऽनुभयं वेति शंकायामिदमभिधीयते सूरभिः— “ पदं विशेषान्तरपक्षात् ” विशेषं नयत इति विशेषो द्रव्यगुणकर्मभेदात् विविधः । तत्र द्रव्ये प्रवर्त्तमानं पदं द्रव्यदारेण विशेषांतरं गुणं कर्प वा स्वीकरोतीति विशेषान्तरपक्षपाति, पक्षपातो हि स्वीकारः परिग्रहः सोऽस्यास्तीति

पक्षपाति विशेषांतरे पक्षपाति विशेषान्तरपक्षपाति । यथा दंडी-
तिपदं संयोगिद्रव्यद्वारेण द्रव्ये देवदत्तादौ प्रवर्त्तमानं गुणमपि
इंडपुरुषसंयोगलक्षणं परिगृह्णाति, कर्म च दंडगतं पुरुषगतं च
परिस्पन्दलक्षणं विशेषान्तरं स्वीकरोतीति । तदस्वीकारणे दं-
डीतिपदस्य द्रव्ये प्रवृत्तिविरोधात् । तथा विषाणीति पदं समवा-
यिद्रव्यविषयं समवायिविषः गिद्वारेण गवादिसमवायिनि प्रव-
र्त्तमानत्वात् । तत्र च विषः गिद्वये प्रवर्त्तमानं तदगुणमपि विशे-
षांतरं घबलादि गृह्णात्येव, क्रियां च विशेषांतरं गवादिगतं
विषाणगतं वा स्वीकरोत्येवेति विशेषांतरपक्षपातीत्युच्यते ।
तथा शुल्क इति पदं, गुणद्वारेण द्रव्ये प्रवर्त्तमानं गुणविषयतां
स्वीकुर्वन्तदन्वयद्रव्यं विशेषांतरं परिगृह्णातीति विशेषान्तरपक्ष-
पाति । तथा चरतीति पदं क्रियाद्वारेण द्रव्ये प्रवर्त्तमानं क्रि-
याविषयतां प्रतिपद्यमानमपि विशेषांतरं तदाधारद्रव्यं तदेका-
र्थसमवायि कर्म च स्वीकरोतीति विशेषांतरपक्षपाति सिद्धं,
विशेषं नयत इति द्रव्यं गुणं कर्म च नयते प्रापयतीत्यर्थः ।

चतुर्विधं हि पदं नामाख्यातनिपातोपसर्गभेदात् केचि-
दमंसत । कर्मप्रवचनीयं च पदमिति पञ्चविधपन्ये । तत्र नाम
पदं किञ्चिद् द्रव्यमभिधत्ते गुणं वा, तद्वनिपातपदं । आख्या-
तपदं तु क्रियाभिधाति तथा चोपसर्गपदं तस्य क्रियो-
द्योतकत्वात् । कर्मप्रवचनीयपदं तु पारिभाषिकं कर्मेति सं-
प्रतिपद्यते । तदेवं सुमिडन्तविकल्पाद्विविधमपि पदं चातुर्विध्यं
पांचविध्यं वा समास्कन्दद्विशेषांतरवृत्तिसद्विशेषं नयते समान-

भावं समानत्वमिति । नयतेर्द्विर्कर्मकत्वादभिसबंधः कर्तव्यस्तद-
नेन प्रधानभावेन द्रव्यादिव्यक्तिरूपं विशेषं गुणाभूतं सामान्यं
पदं प्रतिपादयतीत्यभिहितम् । अन्यत्पदं जातिविधयं समानभावं
सामान्यं विशेषं नयते यथा गौरिति पदं गोत्वजातिद्वारेण
द्रव्ये प्रवर्त्तमानं जातिपदं स्वाश्रयभूतद्रव्यविशेषमपि सामान्य-
रूपं प्रापयति तथा गुणत्वजातिपदं गुणत्वजातिद्वारेण गुणे
वर्तमानं गुणमपि स्वाश्रयं विशेषं जातिरूपतां नयते । तथा
कर्मत्वजातिपदं कर्मत्वजातिद्वारेण कर्मणि प्रवर्त्तमानं कर्मादि
स्वाधिकरणं विशेषं समानभावं नयते । कुत इत्युच्यते, “अ-
न्तर्विशेषः न्तरवृच्छितः” इति अन्तर्विशेषं विशेषांतरमस्येत्यन्तर्वि-
शेषान्तरः समानभावः समानपरिणामस्तत्र हृचोः प्रवर्त्तना-
त्पदस्येत्यर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः । तदेतेन प्रधानभूतसामा-
न्यं गुणाभूतं विशेषं पदं प्रकाशयतीति निगदितं । ततो निर्वि-
शेषमेव पदं न नयते सामान्यं निरपेक्षं तस्यासंभावात् खर-
विषाणवदिति न व्यक्तिवादे पदार्थः संगच्छते तत्र तस्यास-
त्यत्वप्रसंगात् । नाऽपि सामान्यं केवलं विशेषनिरपेक्षं पदं
प्रकाशयति तस्याऽप्यसंभवात् कूर्मोगादिवदिति । न जातिर्वा-
च्यवित्तर्वाऽस्थ पदार्थः समविष्टुते तस्यापि तन्मात्रे प्रवर्त्तमान-
स्यासत्यतापचोः । न च परस्परनिरपेक्षमुभयं पदार्थस्तस्या-
प्यप्रतीयमानत्वात् वैध्यापुत्रादिवद् । तत्र प्रवर्त्तमानस्य पद-
स्यायथार्थत्वप्रसंगते । न चाप्यनुभयं पदमावेदयति तस्याऽन्य-
आद्वचिमात्रस्यात् भूतस्य प्रतिपादने पदात्प्रवृच्छिविरोधात् ।

जात्यन्तरं तु सामान्यविशेषात्मकं वस्तु प्रधानगुणभावेन पदं
प्रकाशयत् यथार्थतां नातिक्रामति प्रतिपत्तिः प्रवृत्तिप्राप्तिघटनात्
प्रत्यक्षादिप्रमाणादिवेति देवागमपद्यवार्तिकःलंकारे निरूपि-
तप्रायम् । तथा—

सामान्यनिष्ठा विविधा विशेषाः

पदं विशेषांतरपक्षपाति ।

अन्तर्विशेषान्तरवृत्तितोऽन्य-

त्समानभावं नयते विशेषम् ॥४०॥

इति वृचं खंडशो व्याख्यातम् ।

अथवा पदं किंचिद्विशेषं संकेतकालवर्तिनं समानभावं
नयते कुतो यस्माद्विशेषान्तरपक्षपाति, संकेतकालवर्तिनो वि-
शेषादव्यवहारकालवर्तिविशेषोऽन्यो विशेषांतरं तत्पक्षपाति-
त्वादित्यर्थः । अन्यत्यदं समानभावमपि विशेषं नयते कस्मा-
दन्तर्विशेषान्तरवृत्तिः, विशेषान्तरराणामन्तः अन्तर्विशेषा-
न्तरं । अंतःशब्दस्य पूर्वनिपातो “अन्तरादेहृण्” इति ज्ञापका-
दन्तर्मुहूर्चवत् । अन्तर्विशेषान्तरे वृत्तिरन्तर्विशेषान्तरवृत्तिस्ततो
विशेषान्तरराणां संकेतसमयवर्तिसामान्यविशेषणविशेषेभ्योऽ-
न्येषां विशेषाणामन्तर्वृत्तिच्चाद्विशेषान्तराद्विभावादित्यर्थः ।
कुतः ? पुनः किंचित्पदं विशेषे द्रव्यादौ प्रवर्चमानं तं विशेषं
सामान्यरूपतां नयते परन्तु सामान्ये प्रवर्तमानं द्रव्यत्वादौ
सामान्यमपि विशेषरूपतां प्रापयतीति चेत्, यतः सामान्य-

निष्ठा विविधा विशेषा इत्युपपत्तिः भिहिता यस्मात् सामान्ये
निष्ठा विशेषाणां तस्मात्पदं विशेषं सामान्यरूपतां नयते य-
स्माच्च सामान्यमपि पदं विशेषं नयत इत्यर्थः ।

किं पुनस्तत्पदं वहिर्भूतं वर्णात्मकमन्तर्भूतं वा चिदात्म-
कमिति शंकायां पदस्य विशेषणमन्तरिति । तेनैवं व्याख्या-
यते—यदन्तःपदं ज्ञानात्मकं तदन्यदेव वर्णात्मकपदात् विशे-
षांतरगृह्णितो विशेषान्तरपक्षपाति सद्विशेषं समानभावं नयते
न पुनर्वर्णसमूहलक्षणं वर्णानामुत्पन्नापवर्गित्वात्समूहानुपपत्तेः
पदस्यैवासंभवात् । वर्णनित्यतायामपि तदभिव्यक्तेरनित्यत्वाद-
भिव्यक्तवर्णसमूहात्मकं पदं न संभावयितुं शक्यं, गौरिति पदे
गकाराभिव्यक्तिकाले तदवयवभूतयोरौकारविसर्गयोरभिव्य-
क्तयभावात्तदभिव्यक्तिकाले च गकारःभिव्यक्तेर्विनाशात् । न
चाभिव्यक्तानभिव्यक्तवर्णानां समूहः संभवति । यदि पुनः क्रमे-
णोत्पन्नानामभिव्यक्तानां वा बुद्धौ विपरिवर्तमानानां क्रमविशे-
षात्मकः समूहः पदमित्यभिधीयते तदाऽप्येकवर्णबुद्धिकाले
शर्णान्तरबुद्धेनुत्पन्नेरुत्तरवर्णबुद्धेरूपत्तिकाले च पूर्ववर्णबुद्धेः
प्रधावंसामैकबुद्धौ वर्णानां नानात्मनां विपरिवर्तनं संभवति । न
चैका बुद्धिर्नानाक्रमवर्त्येकवर्णकालव्यापिनी संभवति तस्याः
कालान्तरस्थायित्वासंभवात् । बुद्धिजनितसंस्कारः कालान्तर-
स्थायीति चेत् न , नानावर्णविज्ञानजनितसंस्काराणां क्रम-
भुवां वर्णस्परणमजनयतामसत्कल्पत्वात् , जनयतां तु न युगपत्
स्परणं संभवति, क्रमतो वर्णस्परणसंभवेऽपि नैकवर्णस्परणका-

ले वर्णन्तरस्मरणमस्ति विरोधात् कुतः स्मर्यपाणानामपि
चर्षीनां समूहः, तत एव पदस्फोटः पदार्थप्रतिपत्तिनिमित्तं,
चर्षीनां प्रत्येकमर्थप्रतिपत्तिनिमित्तत्वे वर्णन्तरवैयर्थ्यप्रसंगात्स-
मूहस्यासंभवात् तद्बुद्धिस्मरणसमूहविद्यपरे । तेषामपि पद-
स्फोटो नित्यो निरंशः सर्वगतोऽमूर्तः किमनभिव्यक्तः पूर्वार्थप्रति-
पत्तिहेतुरभिव्यक्तो वा ? प्रथमपक्षे वर्णोच्चारणानर्थकर्यं सर्व-
दा सर्वत्र सर्वथाऽप्रतिहतार्थप्रतिपत्तिः प्रसज्येत ! कदाचित् क-
चित् कर्थचिदसंभवाभावात् । द्वितीयपक्षे तु पदस्फोटोऽभिव्य-
क्यषानः प्रत्येकं वर्णेनाभिव्यज्यते वर्णसमूहेन वा ? यदि प्रत्येकं
वर्णेनाभिव्यज्यते तदैकवर्णेन सर्वात्मना तस्याभिव्यक्तत्वात्
सर्वत्र सर्वथा वर्णन्तरोच्चारणवैयर्थ्यं कथं विनिवार्येत ? ।
पदार्थन्तरप्रतिपात्तिव्यवच्छेदार्थत्वादृणान्तरोच्चारणस्य न वै
यर्थ्यमिति चेत् न , वर्णन्तरोच्चारणादपि पदार्थन्तरप्रति-
पत्तत्वेरेवानुषंगात् , यथा हि गौरितिपदस्यार्थो गकारोच्चारणा-
त्पत्तीयेत तथौकारोच्चारणदौशनस इतिपदस्यार्थः प्रतिपद्येता-
द्येन गकारेण गौरिति पदस्येव प्रथममौकारेणोशनस इति
वदस्य स्फोटस्याभिव्यक्तेः । तथा च गौरिति पदादेव गौरो
शनस इति वाक्यार्थप्रतिपत्तिः प्रसज्येत, संशयो वा स्यात् ।
किमेकपदस्फोटाभिव्यक्तये गकाराद्यनेकवर्णोच्चारणं पदां
तरस्फोटव्यवच्छेदेन, किंवाऽनेकपदस्फोटाभिव्यक्तये गका-
राद्यनेकवर्णोच्चारणमिति ततो नैकेनैव वर्णेन पदस्फोटस्य स-
ब्दात्मनाऽभिव्यक्तिर्थिते । नाऽप्येवदेशेन सांश्वत्प्रसंगात्,

सांशुस्य च स्वांशेभ्योऽनर्थान्तरत्वे नानात्वप्रसंगो नाना-
वयवेभ्योनर्थान्तरस्यैकत्वविरोधात् । एकस्पादनर्थान्तरभूतानां
नानावयवानां नानात्वविरोधत् । स्वांशेभ्योऽर्थान्तरत्वे
तस्यानभिव्यक्तिप्रसक्तिस्ततो भिन्नानामेवांशानां नानावण्ठैर-
भिव्यक्तित्वात् । यदि शुनर्नानावण्ठाभिव्यक्तैः पदस्फोटस्यां-
श्वैरभिव्यक्तिरभिधीयते तदैकवर्णाभिव्यक्तपदस्फोटावयवेन
सर्वात्मना पदस्फोटस्याभिव्यक्तौ वर्णान्तराभिव्यक्ततदवयव-
वैयर्थ्यमासज्येत, तस्यैकदेशेनाऽभिव्यक्तौ नानावयवत्वमवयवा-
न्तरैरिति, तेभ्योऽपि तस्यानर्थान्तरत्वार्थान्तरस्यविकल्पयोस्तदे-
व दृष्ट्यामनवस्था च दुर्निवारा स्यात् । यदि वर्णसमूहेन पद-
स्फोटोऽभिव्यज्यत इति मतं, तदापि क्षणमध्यांसिनां वर्णानां
कथं समूहः सिद्धयेत् योऽभिव्यञ्जकः स्यात्, नित्यानामपि
वर्णानामनभिव्यक्तानां समूहो न व्यञ्जकः सर्वदाभिव्यक्ति-
प्रसंगात् । अभिन्यक्तानां तु समूहो न संभवत्येव तदैकवर्णाभि-
व्यक्तिसमये वर्णान्तराभिव्यक्त्ययोगात्, व्यक्ताव्यक्तात्मकानां
तु वर्णानां समूहो न पदस्फोटस्याभिव्यञ्जकः स्यात् तदु-
भयदोषानुषंगात् ।

स्यान्मतं, पूर्वपूर्ववर्णश्रवणज्ञानाहितसंस्कारस्यात्मनोऽ-
न्त्यवर्णश्रवणज्ञानानंतरं पदस्फोटस्याभिव्यक्तेः पदार्थप्रतिपक्षि-
रिति । तदप्यसत् । तथैव पदार्थप्रतिपक्षिसिद्धेः स्फोटप्रतिकल्प-
नानर्थक्यात् । चिदात्मव्यतिरेकेण तत्वानंतरस्य स्फोटस्यार्थप्रका-
शनसामर्थ्यानुपपत्तेः । स एव चिदात्मा विशिष्टशक्तिः स्फो-

योऽस्तु “स्फोटति प्रकटीभवत्यर्थोऽस्मिन्निति स्फोट” चिदात्मा, पदार्थज्ञानावरणावीर्यन्तरायक्षयोपशमविशिष्टः पदस्फोटो, वाक्यार्थज्ञानावरणावीर्यन्तरायक्षयोपशमविशिष्टो वाक्यस्फोट इति प्रकरण। हिकाध्यायशास्त्रमहाशास्त्रादिरंगप्रविष्टांगवाहविकल्पः स्फोटः प्रसिद्धो भवति, भावश्रुतज्ञानपरिणतस्यात्मनस्तथाभिधानाविरोधात् । न हि निरतिशयनित्यैकान्तस्वभावोऽयमात्मा नानार्थग्रहणपरिणामविरोधान्निरन्वयविनश्वरक्षणिकचित्तवत् क्रमयौगपद्यविरोधात् । नापि सातिशयनित्यैकान्तस्वभावोत्यन्तार्थन्तरभूतैरतिशयैः संबंधानुपपत्तेः । ज्ञानादिपरिणामानापात्मनि समवायसंबंध इति चेतु न, तस्य कथंचित्तादात्मयव्यतिरेकेण पदार्थन्तरस्यासंभवात् । परिणामिनस्तु प्रमाणबलादेव स्थितस्यात्मनो नानार्थग्रहणपरिणामोपत्तेरन्तःस्वरूपं पदं चिदात्मकमिति व्यवतिष्ठते । तस्मिन् सति वक्तुः क्रमविशेषविशिष्टवर्णसमूहलक्षणं वाहं पदं श्रोत्रज्ञानविषयभावमापद्यमानमनुमन्यामहे तस्यैव श्रोत्रिजनपदार्थज्ञानजनननिबंधनत्वनिर्णयात् । ततस्तदेव विशेषं समानभावं नयते विशेषांतरपक्षपातित्वात् सामान्यं च विशेषं नयते विशेषान्तरवृत्तेः स्वयं सामान्यनिष्ठविविधविशेषविषयीकरणसमर्थत्वात् ।

एतेनांतरं वाक्यं प्रकरणमान्हिकमध्यायः शास्त्रादि भावश्रुतविशेषं विविधं समानभावं नयते, सामान्यं वा नैकप्रकारं विशेषं नयत इति प्रतिपत्तव्यम् ।

अथाऽस्ति जीव इत्यग्राऽस्त्वेव जीव इत्यबधार्यते का
नवेति प्रथमकल्पनायां दृष्णमावेदयंति सुरयः—

यदेवकारोपहितं पदं त-

दस्वार्थतः स्वार्थमवच्छिनत्ति ।

पर्यायसामान्यविशेषसर्वं,

पदार्थहानिश्च विरोधिवत्स्यात् ॥४१॥

टीका—एवकारेणावधारणार्थेन निपातेनोपहितं विशिष्टं
पत्पदं तत्स्वार्थपस्वार्थाद् व्यवच्छिनत्ति यथा तथा स्वार्थप-
र्यायान् व्यवच्छिनत्येव । तद्यथा—जीव एवेति पदस्य जीवत्वं
स्वार्थस्तद्विरोधी चास्वार्थः स्यादजीवत्वं तच्च यथैवजीवत्वं
व्यवच्छिनत्तित तथा जीवपर्यायानपि सुखज्ञानादीन् व्यव-
च्छिनत्येवान्यथा सुखादिपदोपन्यासवैयर्थ्यात् जीवपदेनैव
तेषां विषयीकृतत्वात्, तथा चाहं सुखीत्यादिप्रयोगो न
भवेत् । सामान्यमपि द्रव्यत्वचेतनत्वादि सर्वं व्यवच्छिन्द्यात्
अन्यथा द्रव्यमहं चेतनोऽहमिति प्रयोगो विरुद्धते जीवपदे-
नैव द्रव्यत्वादेवभिधानात् । तथा विशेषानप्यर्थपर्यायाननंतान-
भिधानाविषयान् व्यवच्छिन्द्यादन्यथा तद्विषयीकरणप्रसंगात् ।
तथा च पर्यायाणां क्रमभुवां धर्माणां सामान्यानां च सहभुवां
विशेषाणां चानभिधेयानां व्यवच्छेदे पदार्थस्य जीवपदाभिधे-
यस्य जीवत्वस्याऽपि हानिः स्यात्तद्विरोध्यजीवत्वत् (तेषामभावे
अयजीवत्वत्) तेषामभावे तदसंभवात् । प्रतियोगिनमेवाजीवपदे-

व्यवच्छिन्नति न पुनरप्रतियोगिनस्तत्पर्यायसामान्यविशेषान्
तेषामप्रस्तुतत्वादिति चेत्, नैवं स्याद्वादानुप्रवेशप्रसंगात् ।

तर्हि द्वितीयकल्पनास्तु सर्वं पदमनेवकारपिति वदंतं प्रत्याहुः—

अनुक्ततुल्यं यदनेवकारं

व्यावृत्यभावान्नियमद्वयेऽपि ।

पर्यायभावेऽन्यतराप्रयोग-

स्तत्सर्वमन्यच्युतमात्महीनम् ॥ ४२ ॥

दोका—अस्ति जीव इत्यत्रास्तीति यत्पदमनेवकारं तद-
नुक्ततुल्यं नास्तित्वव्यवच्छेदाभावान्नास्तित्वस्थाप्रतिपादनात् ।
तथा जीव इति पदमनेवकारपर्यायापि तेनाकथनात् । निय-
मद्वयेऽपि व्यावृत्यभावात् । अस्त्वेवेति पूर्वावधारणां, जीव एवे-
त्युक्तरावधारणां नियमद्वयं । तस्मिन्निष्टेऽप्येवकाराभावे व्यावृ-
त्यभावात् प्रतिपक्षनिवृत्यसंभवादित्यर्थः । तथा चास्तिनास्ति-
पदयोर्जीवाजीवपदयोश्च पर्यायभावः स्याद्वकुटशब्दवत् अस्ती-
स्तिपदेन नास्तित्वस्थापि प्रतिपादनान्नास्तीतिपदेन चास्तित्व-
स्थापि प्रतिपादनात् । तथा जीवपदेनाजीवार्थस्थापि वचनात्, अ-
जीवपदेनापि जीवार्थस्थापीति, पर्यायभावे च परस्परप्रतियोगिप-
दयोरपि सकलजनस्यान्यतराप्रयोगः स्यात् घट्कुटपदवदेव, तद-
न्यतराप्रयोगे च सर्वमभिधेयं वस्तुजातमन्येन प्रतियोगिना च्युतं
त्यक्तं स्यादस्तित्वं नास्तित्वरहितं भवेदिति सत्ताद्वैतमापद्वेदः ।
नास्तित्वाभावे च सत्ताद्वैतमात्महीनं प्रसज्येत, पररूपापोहना-

भावे स्वरूपोपादानानुपत्तेः कुटस्याकुटापोहनाभावे स्वात्मोपा-
दानासंभवात् । नास्तित्वस्य चास्तित्वच्युतौ शून्यवादानुषंगः ।
न चाभावो भावमन्तरेण संभवतीति शून्यपर्यात्महीनमेव स्यात्,
शून्यस्य स्वरूपेणाऽप्यभावे पररूपापोहनासंभवात् पटस्य
स्वरूपोपादानाभावे शश्वदपटरूपापोहनासंभवात्, स्वपररूपोपा-
दानापोहनव्यवस्थापादत्वाद्वस्तुनो वस्तुत्वस्य । नन्वेवं वस्तुनोऽ-
प्यवस्तुपोहनेन भवितव्यं वस्तुत्वोपादानवत्तथा चावस्तु कि-
चिदभ्युपगमन्तव्यमिति चेत्, न वस्तुन एव परदव्यक्षेत्रकाल-
भावचतुष्टयापेक्षायामवस्तुत्वसिद्धेः सकलस्वरूपशून्यस्यावस्तु-
नोऽप्यसंभवात् ।

तथा चोक्तम्—

वस्तेवावस्तुतां याति प्रक्रियाया विषयेयादिति
ततो न किंचिद्दम्भुप्रतिपक्षभूतावस्तुवर्जितमात्मानं लभते यतः
सर्वपन्यच्युतपात्महीनं भवेत् । सुदूरपर्यनुसृत्य कस्यचिदिष्टस्य
तत्त्वस्यात्महीनत्वमनभ्युपगच्छतान्यहीनत्वं नानुपन्तव्यं । तद-
प्यननुपन्यमानेन नान्यतराप्रयोगोऽनुपन्तव्यः, तं चाननुग-
च्छता न पर्यायभावः प्रत्येयस्तमप्रतीयता नियमदूयेऽपि व्यावृत्य-
भावो नाभ्युनुज्ञातव्यः । तपर्यनभ्यनुज्ञानता नानेवकारं पद-
मंगीकर्त्तव्यमिति सर्वं पदमेवकारोपहितमेव वक्तव्यं तत्र चोक्तो
दोषः । नन्वेवकारप्रयोगाभावेऽपि प्रतिपत्तुर्थप्रकरणालिङश-
ब्दांतरसन्निधिसामर्थ्यात्सामान्यवाचिनापपि विज्ञेषे स्थितिर्भ-
विष्यतीति तथैव व्यवहारस्य प्रवृत्तेः ।

तदुक्तम्—

अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ।

सावान्यवाचिशब्दानां विशेषे स्थितिहेतवः ॥ इति ॥
तदप्यनालोचिताभिधानं । अर्थप्रकरणादिभिरपि यद्येवकारार्थे विशेषे स्थितिः क्रियते तदैवकारोपहितपदप्रयोगपक्षभाविदृष्टगण्यः परिहर्तुपशक्यः । अथ ततोऽन्यत्र विशेषे स्थितिहेतवोऽर्थप्रकरणादयस्तदाऽनेवकारपदप्रयोग एव समर्थितः स्यात् । तत्र चोक्तो दोषः ।

स्यान्मतं—कचिदेवकारोपहितं पदं कचिदनेवकारं यथा पूर्वावधारणे पूर्वं पदमेवकारोपहितमुत्तरमनेवकारं, उत्तरावधारणे पुनरुत्तरं पदमेवकारोपलक्षितं पूर्वमनेवकारमिति । तदप्यसद् पञ्चद्वयाक्षिसदोषानुषंगात् । यदि पुनरस्तीति पदेनाभिधेयमस्तित्वमनेवकारेणापि नान्येन तत्प्रतिपक्षभूतेन नास्तित्वेन च्युतं भवति, तस्य तदभेदित्वात्, सच्चाद्वैतवादिनोऽस्तित्वव्यतिरेकेण नास्तित्वासंभवादन्यत्रानाद्यविद्योपषुवात् । तत्सर्वथा शून्यवादिनो नास्तित्वव्यतिरेकेणास्तित्वे च वर्तनेनात्महीनं प्रसंजनयितुं शक्यमिति मतं तदापि दूषणमाहुः स्वापिनः—

“ विरोधि चाभेद्यविशेषभावात् ” इति ।

नास्तित्वपस्तित्वात् सर्वथाप्यभेदि येनाभिधीयते तस्य तद्विरोधस्य भेदवद्वेत् सच्चाद्वैतेऽभिधानाभिधेययोर्विरोधात् । कस्माद् ? अविशेषभावादविशेषत्वात् सकलविशेषाणामभावा-

दित्यर्थः । अनाद्यविद्यावशाद्विशेषसञ्चावाददोष इति चेत् , न, विद्याविद्याविशेषयोरप्ययोगात् , अन्यथा द्वैतप्रसंगत् । अथवा नास्तित्वमस्तित्वादभेदीति विरोधि च स्यान् केवलमात्महीनमिति चशब्दार्थः । कस्मात् ? अविशेषभावाद्विशेषस्य भेदस्यास्तित्व-नास्तित्वयोरभावात् । यो हि ब्रूयः दिदमस्मादभेदीति तेन तयोः कथंचिज्ञेदोऽभ्युपगतः स्यादन्यथा तदूचनायोगात् , कथंचिदपि भेदिनोरभावे तत्पतिषेधविरोधात् । अथ शब्दाद्विकल्पभेदः ज्ञेदिनोः स्वरूपभेदः प्रतिषिध्यते तदापि शब्दयोर्विकल्पयोश्च भेदं स्वयमनिच्छेव संज्ञिनो भेदं कथमपाकुर्वीत ? पराभ्युपगमादेव शब्दविकल्पभेदस्येष्टर्ण दोष इति चेत् , न, स्वपरभेदानभ्युप-गमे पराभ्युपगमासिद्धेः । विचारात् पूर्वं स्वपरभेदः प्रसिद्ध एवेति चेत् , न, तदापि पूर्वाभ्युपगमादभेदस्यासिद्धेः । तत्सर्वथा भेदापहवे स्यादेवाभेदीति वचो विरोधि विशेषाभावादिति स्थितं ।

नन्वेमस्तित्वविरोधान्नास्तित्वं वस्तुनि कथमभिधीयते स्याद्वादभिरेवकारोपहितेनास्तीतिपदेन तस्य व्यवच्छेदाद-नेवकारेण तस्य वक्तुमशक्यत्वादनुक्तसमत्वात् । ततश्चावाच्य-तैवापतेत् प्रकारांतराभावादित्याशंकायामिदमुच्यते—

तदूद्योतनः स्याद्गुणतो निपातः ।

**विपाद्यसन्धिश्च तथांगभावा-
दवाच्यता आयसलोपहेतुः ॥ ४४ ॥**

श्रीका—तस्य विरोधिनो धर्मस्य द्योतनः स्यादिति निपातः स्याद्वादिभिः संप्रयुज्यते । यदेवं विध्यर्थिनः प्रतिषेधेऽपि प्रवृत्तिर्भवेत् द्वयोरपि प्रकाशनप्रतिपादनादिति न मन्तव्यं गुण इति वचनात् । विधौ प्रयुज्यमानं पदपस्त्रीति प्रतिषेधं गुणभावेन प्रकाशयति स्यादिति निपातेन तथैव द्योतनात् । तथा विपादस्य विपक्षभूतस्य धर्मस्य संविश्व स्यादंगभावादंगस्यावयवस्य भावादवयवत्वादित्यर्थः । सर्वथाऽप्यवाच्यता तु न युक्ता तस्याः श्रायसलोपहेतुत्वान्विश्रेयसतत्त्वस्याप्यवाच्यत्वात्तदुपायतत्त्ववत् । न चोपेयस्योपायस्य वचनाभावे तदुपदेशः संभवति, न चोपदेशाभावे श्रायसोपायानुष्टानं संभवति, नाप्युपायानुष्टानानुपपत्तौ श्रायसप्रित्यवाच्यता श्रायसलोपहेतुः स्याच्चतः स्यात्कारलाज्जनं पदमेवकारोपहितमर्थवत् प्रतिपत्तव्यमिति तात्पर्यार्थः ।

नन्वेवं सर्वत्र स्यादिति निपातस्य प्रयोगप्रसंगात्यति-पदं तदप्रयोगः शास्त्रे लोके च कुतः प्रतीयत इति शंकां प्रतिप्रत्याप्ति सूख्यः—

तथा प्रतिज्ञाशयतो प्रयोगः

सामर्थ्यतो वा प्रतिषेधयुक्तिः ।

इति त्वदीया जिननाग ! दृष्टिः

पराप्रधृष्या परधर्थर्थिणी च ॥ ४७ ॥

श्रीका—तथा स्याज्जीव एवेतिपकारेण या प्रतिज्ञा

तस्यापाशयोऽभिप्रायस्तथा प्रतिज्ञाशयः प्रतिपादयितुरभिप्रा-
यस्तस्मात् प्रतिपदं स्यादिति निपातस्याप्रयोगः शास्त्रे लोके
च प्रतीयते एवकाराप्रयोगवत् । शास्त्रे तावत् सम्यग्दर्शनज्ञान-
चारित्राणि मोक्षमार्ग इत्यादौ न क्वचित्स्यात्कार एवकारो वा
प्रयुक्तयते, शास्त्रकारैरप्रयुक्तोऽपि विज्ञायते तेषां तथा प्रति-
ज्ञाशयसञ्चावात् सामर्थ्यतो वा प्रतिषेधस्य सर्वथैकान्तव्यवच्छे-
दस्य युक्तिः स्याद्वादिनामन्यथा तदयोगात्, न हि स्यात्का-
रप्रयोगमन्तरेणानेकान्तात्मकत्वसिद्धिरेवकारप्रयोगमन्तरेण स-
म्यगेहान्तावधारणसिद्धिवत् । “सदेव सर्वे को नेच्छेत्स्वरू-
पादिचतुष्टयाद्” इत्यादौ स्यात्काराप्रयोग इति न मन्तव्यं,
स्वरूपादिचतुष्टयादिति वचनात्स्यात्कारार्थप्रतिपत्तेः, “कथं
चिच्चे सदेवेष्टु” इत्यादौ कथंचिदिति वचनात्तत्वयोगवत्,
तथा लोके धटमानयेत्यादिषु तदप्रयोगः सिद्ध एव । इत्येवं
जिननाग ! जिनकुंजर ! त्वदीया दृष्टिः परैः सर्वथैकान्तवा-
दिभिरप्रधृष्ट्या प्रमाणनयसिद्धर्थत्वात् । परेषां भावैकान्तवा-
दिनां प्रधर्षिणी च त्वदीया दृष्टिरिति संबंधः । तेषां सवयाऽ-
विचार्यमाणानामप्रयोगः—यथा चाभावैकान्तदिपक्षा न्यक्षेण
अतिक्षिप्ता देवागमास्तमीमांसायां तथेह प्रतिपत्तव्या इत्यत्रमिह
विस्तरेण ।

कथं पुनर्विपाद्यसंधिश्च पदस्याभिधेयः स्यादिति स्वयं
मूरयः प्रकाशयन्ति—

विधिर्निषेधोऽनभिलाप्यता च

त्रिरेकशस्त्रिद्विश एक एव । त्रयो विकल्पास्तव सप्तधामी

स्याच्छब्दनेयाः सकलेऽर्थभेदे ॥ ४६ ॥

यीका—स्यादस्त्येवेति विधिः स्यान्नास्त्येवेति निषेधः स्यादनभिलाप्यमेव सर्वपर्यजातमित्यनभिलाप्यता, तेऽप्यी त्रयो विकल्पाः एकशस्त्रिरिति वचनात् पदस्येत्यर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः । एषां विपाद्येन द्विपक्षेण संधिः संयोजना स्यादस्ति नास्त्येव स्यादस्त्यवक्तव्यमेव स्यान्नास्त्यवक्तव्यमेवेति त्रिद्विशो भवति । द्वाभ्यां द्विश इति द्विसंयोगजा विकल्पास्त्रिरिति त्रिपक्तारा भवन्ति । स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यमेवेत्येक एव विकल्पो भवति । तदेवं विपाद्यसंधिप्रकारेण त्रयोऽप्यी मूलविकल्पाः सप्तधा भवन्ति । किं क्वचिदेवार्थे किं वा सर्वत्रेति शंकायामिदमुच्यते—सकलेऽर्थभेदे निरखेषु जीवादितत्त्वार्थपर्याये, न युनः क्वचिदेवार्थपर्यायभेदे, प्रतिपर्यायं सप्तमंगीतिवचनात् । विकल्पाः सप्तधा भवन्ति तवेति वचनात् न च परेषामप्यप्यप्यी । नन्वस्तित्वं प्राति विप्रानिपञ्चमनसां तत्पत्यायनाय यथा स्यादस्त्येवेति पदं प्रयोगपर्हनि तथा स्यान्नास्त्येवेत्यादिपदान्यपि प्रयोगमहेयुः सप्तधावचनमार्गस्य व्यवस्थितेरिति पराकृतं निराचिकीर्षवः स्याच्छब्दनेया इति प्रतिपादयन्ति । यथा विधिविकल्पस्य प्रयोगस्तद्विवादविनिवृत्तये स्याद्विभिर्विधीयते तदा निषेधादिविकल्पाः शेषाः षडपि स्याच्छब्देन नेयाः स्युः । न

पुनः प्रयोगमर्हेति तदर्थे विवादाभावात् तद्विवादे तु क्रमशस्तत्म-
योगेऽपि न कश्चिदोषः प्रतिभाति प्रतिपाद्यस्यैकस्यापि सम्भवाचि-
प्रतिपचिसद्भावात् । तावत्कृन्वः संशयोपजननात्तावज्जिज्ञासो-
पपत्तेस्तावदेव च प्रश्नवचनश्वर्ष्णः “प्रश्नवशादेकवस्तुन्यविरोधेन
विधिप्रतिषेधवलग्ना सम्भंगीति” वाच्चिकारवचनात् । नाना-
प्रतिपाद्यजननानिवैकप्रतिपाद्यजनमपि प्रतिपाद्यितुमनसां सम-
विकल्पवचनं न विरुद्ध्यत एव । ननु च स्यादिति निपातोऽने-
कांतस्य घोतको वाचको वा, गुणभावेन भवेत्प्रथानभावेन वा ?
तत्र यदि गुणकल्पनया घोनकोऽभिधीयते तदा तदाचकपदा-
न्तरेणाऽपि गुणकल्पनयैव वाच्यत्वप्रसंगः सर्वत्र पदाभिधेयस्यै-
व निपातेन घोतयितुं शक्यत्वात्, तदनुक्तस्यार्थस्य तेन घोतने
तस्य वाचकत्वप्रसंक्तेस्तत्प्रयोगसामर्थ्यात्तदर्थप्रतिपत्तेः ।

स्यान्मतमेतत्—अस्तीतिपदेन निपातेन तावदस्तित्वं प्र-
धानकल्पनयोच्यते स्यादितिपदेन निपातेन नास्तित्वादयो
धर्मा घोत्यन्त इति प्रधानगुणकल्पनयाऽनेकान्तप्रतिपत्तिरेव-
कारप्रयोगादन्यव्यवच्छेदसिद्धेरिति । तदप्यसम्यक्; अस्ती-
तिपदेनानुक्तानां नास्तित्वादिधर्माणां स्थाच्छब्देन घोतने
सर्वार्थघोतनप्रसंगात् । सर्वार्थानामेवकारेण व्यवच्छेदात्र तद-
घोतनप्रसंग इति वचनं न युक्तिमत् नास्तित्वादीनामपि तेन
व्यवच्छेदादनुघोतनप्रसंगात्तनो न घोतकः स्याच्छब्दोऽने-
कांतस्य युज्यते नाऽपि वाचकः स्यादिति निपातप्रयोगादेव
तत्प्रतिपत्तेरस्तीत्यादिपदप्रयोगानर्थक्यात् ।

सर्वार्थप्रतिपादने तेनैव पर्याप्तबात्यदान्तरस्य प्रयोगो वा
युनहक्त्यवनिवार्यमिति केचित्, नान्पति सूत्रायः प्राहुः—

स्यादित्यपि स्याद् गुणमुख्यकल्पै-

कान्तो यथोपाधिविशेषवीक्ष्यः ।

तत्त्वं त्वनकांतमशेषरूपं

द्विधा भवार्थव्यवहारत्वात् ॥ ४७ ॥

टीका—अस्यायर्थः, स्यादित्यपि निपातो गुणमुख्य-
कल्पैकान्तः स्यात्, गुणश्च मुख्यश्च गुणमुख्यौ स्वभावौ
ताभ्यां कल्प्यन्त इति गुणमुख्यकल्पाः, गुणमुख्यकल्पा
एकान्ता यस्य सोऽयं गुणमुख्यकल्पैकान्तः स्याद्वेद्यादेशा-
दित्यमित्रायः । शुद्धद्रव्यार्थिकप्रधानभावादस्तित्वैकान्तो
मुख्यः, शेषा नास्तित्वाद्यैकान्ता गुणाः, प्रधानभावेनानर्पणा-
दनिराकरणात् नास्तित्वादिनिरपेक्ष्यास्तित्वस्यासंभवात्
खुरविषणवत् । स्याच्छब्दस्तु तद्योतनः प्रधानगुणभावेनैव
भवेत्तथैवास्तीति पदेनाभिधानात् पदान्तरेण यथाभिधानं
निपातपदेन द्योतयितुं शक्त्वात् । व्यवहारनयादेशात् ना-
स्तित्वैकान्ता मुख्याः स्युरस्तित्वैकांतस्तु गुणः प्राधान्येना-
विवक्षितत्वात्तदप्रतिक्षेपात् तत्रास्तित्वनिराकरणे तु नास्ति-
त्वादिधर्षणामनुशप्तेः कूर्परोमादिवत् । नास्तित्वादिभिरपेक्ष-
माणं तु वस्तुनोर्स्तित्वं स्याच्छब्देन द्योत्यत इति प्रधानगु-
णभावेनैव स्यादिति निपातः कल्पयत्येकांताच्छुद्धनयादेशा-

आन्यथा । कुत इति चेत्, यथोपाधि यथा विशेषणं निशेषस्य
भेदस्य भावात् सद्ग्रावात् “धर्मे धर्मेऽन्य एवाऽर्थो धर्मिणो-
ऽनंतवर्धिणः” “इत्यन्यत्रापि वचनात् । नयादेशो हि वस्तुनो
धर्मभेदः द्विशेषो न प्रमाणदेश इति । जीवादि तत्त्वमपि तर्हि
प्रधानगुणभूतैकान्तपायात्मिति न शंकनीयं । “तत्त्वं त्वने-
कान्तपशेषरूपं” इति वचनात् । तत्त्वं जीवादि प्रमाणार्थितं
सकलादेशात् “सकलादेशः प्रमाणाधीनः” इति वचनात्
तदनेकान्तमेव स्याद् अनेकान्तोऽप्यनेकांतो न पुनरेकान्तस्त-
स्य नयार्पणयोक्तत्वात् । कुतस्तदनेकांतमित्युच्यते— यतोऽशे-
षरूपं अशेषं सकलं रूपं यस्य तदशेषरूपं विकलरूपस्य तत्त्वै-
कदेशत्वात् ।

कथमिदानीं स्याज्जीव एव स्यादजीव एवेत्यादिनः
प्रमाणवाक्येनाभिधीयत इति शंकायामिदमुच्यते—

“द्विधा भवार्थव्यवहारतत्त्वादिति”

तत्त्वं द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां व्यवस्थितं द्रव्यरूपं भवार्थ-
तत्त्वात् पर्यायरूपं व्यवहारतत्त्वात् । भवार्थो हि सद्द्रव्यं विधि-
र्व्यवहारोऽसद्द्रव्यं गुणः पर्यायः प्रतिषेधः, तत्तत्त्वमेव वस्तुन्
इति द्विप्रकारं तत्त्वं प्रकारान्तराभावात् । तत्र यदा यदा सद्द्रव्यं
जीवो धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकाय आकाशं कालः पुरुषो
मनुष्यादिरिति वा विधिलक्षणभवार्थप्ररूपणायां सदिति शब्दः
प्रयुज्यते तदा कालात्मरूपसंसर्गगुणिदेशार्थसंबंधोपकार-
शब्दैरभेदेनाभेदात्मकस्य वस्तुनोऽभिधानात् सकलादेशस्य

प्रयोगादेषरूपं तत्त्वमिधीयते । सदिति
शब्दो हि सकलसद्विशेषात्मकं सदितरात्मकासद्विशेषात्मकं
च तत्त्वं प्रतिपादयति कालादिभिरभेदात् । तथा द्रव्यमिति
शब्दो निःशेषद्रव्यविशेषात्मकं द्रव्यतत्त्वं सकलपर्यायविशेषा-
त्मकमद्रव्यगुणाद्यात्मकं च प्रकाशयति । तथैव जीव इति शब्दो
जीवतत्त्वं सकलजीवविशेषात्मकं जीवपर्यायरूपं जीवाजीववि-
शेषात्मकं च कथयति । तथैव धर्म इत्यधर्म इत्याकाश इति
काल इति च शब्दो धर्मपर्यामाकाशं कालं च सकलस्वविशे-
षात्मकं निवेदयति । पुद्गल इति शब्दोऽस्तिलपुद्गलविशेषात्मकं
पुद्गलद्रव्यमेवेति प्रतिपत्तव्यं विधिरूपस्य भवार्थस्य प्राधान्यात् ।
यदा पुनरसदितिशब्दः प्रयुज्यते तदाऽप्यसत्तत्वं पररूपादि-
चतुष्टयापेक्षं वालादिभिरभेदेनाभेदोपचारेण सकलासद्विशे-
षात्मकं तत्त्वं रूपायति, व्यवहारस्य भेदप्राधान्यात् । तथैवा-
द्रव्यमजीव इत्यादि प्रतिषेधशब्दः सकलासद्विशेषात्मकमद्रव्य-
त्वमजीवादितत्त्वं च प्रत्याययति । स्यादिति निषातेन तथा
तस्योद्योतनादेवकारेणान्यथाभावनिराकरणात् । वस्तुत्वमिति
शब्दस्तु स्यात्कारलांछनः सैवकारः सकलवस्तुविशेषसदसदा-
दिरूपं तत्त्वं कालादिभिरभेदेनाभेदोपचारेण प्ररूपायति तस्य
भवार्थव्यवहारव्यवहारिभिन्नेषप्राधान्येन युगपदभिधानात् ,
यत्काले वस्तुनो वस्तुत्वं तत्काल एव सकलवस्तुविशेषास्तस्य
तद्रव्यापकत्वादिति कालेनाभेदस्तेभ्यो द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् ।
यथा च वस्तुनो वस्तुत्वमात्मरूपं तथा सर्वे वस्तुविशेषाः

इत्यात्मरूपेणाभेदः । यथा च वस्तुत्वेन वस्तुनः संसर्गस्तथा
वस्तुविशेषैरपि, सविशेषस्यैव तस्य सम्यक् सृष्टौ व्यापा-
रात् ततः संसर्गेणाप्यभेदः । यस्तु वस्तुत्वस्य गुणस्य
वस्तुगुणिदेशः स एव वस्तुविशेषाणामिति गुणिदेशेनाऽपि
तदभेदः । य एव चार्थो वस्तुत्वस्याधिकरणलक्षणो वस्त्वात्मा स
एव सकलवस्तुधर्माणामित्यर्थतोऽपि तदभेदः । यथा वस्तुनि
वस्तुत्वसंबंधः समवायोऽविष्वभावलक्षणः स एव सकलधर्मा-
णामिति संबंधेन तदभेदः । य एव चोपकारो वस्तुनो वस्तु-
त्वेन क्रियतेर्थक्रियासाधर्थ्यलक्षणः स एव सकलधर्मैरित्यु-
पकारंैव तदभेदः । यथा च वस्तुशब्दो वस्तुत्वं प्रतिपादयति
तथा सकलवस्तुधर्मानि तैर्विना हस्य वस्तुत्वानुपत्तेरिति श-
ब्देनाऽपि तदभेदः । पर्यायार्थिकप्राधान्येन तु परमार्थतः का-
लादिभिर्भेद एव धर्मधर्मिणोरभेदोपचारात् । वस्तुशब्देन सकल-
धर्मविशिष्टस्य वस्तुनोऽभिधानात् सकलादेशो न विरुद्ध्यते ।
ततः स्याद्वस्त्वेत्यादिशब्दः तत्त्वमशेषरूपं प्रतिपादयतीति ना-
नात्मरूपस्यापि वस्तुनो वाचकसंभवः सकलादेशवाक्येन तस्य
तथा वक्तुं शब्दत्वात् । ननु च द्रव्यमात्रं तत्त्वं तस्य द्रव्यपदेना-
भिधानात् पदान्तराणामपि तत्रैव व्यापारात् तदव्यतिरेकेणा-
पदार्थसंभवादित्येके । पर्यायमात्रमेव तत्त्वं द्रव्यस्य सकलप-
र्यायव्यापिणो विचार्यमाणस्यायोगात् द्रव्यादिपदेनापि पर्या-
यमात्रस्यैव कथनात्तत्र प्रवृत्तिप्राप्तिदर्शनाच्चेत्यन्ये । द्रव्यं प-
र्यायथ पृथगेव तत्त्वं तयोस्तादात्म्यविरोधात् द्रव्यपदेन द्रव्य-

स्यैवाभिधानात्यर्थायपदेन पर्यायस्यैव निवेदनादन्यथासंकरव्यतिक्रमसंगादित्यपरे । द्रव्यपर्यायद्यात्मकं तत्वं द्रव्यपदेन पर्यायपदेन वा तस्यैवाभिधानात् सर्वत्रापर्यायात्मकं स्य द्रव्यस्यासंभवात् सकलपर्यायशून्यस्य च द्रव्यस्याप्रतीतेरितीतरे ।
तान् प्रति सूरयो वक्तपागभन्ते—

न द्रव्यपर्यायपृथग्व्यवस्था —

द्वैयात्म्यमेकार्पणया विरुद्धम् ।

धर्मश्च धर्मी च मिथस्त्रिधेमौ—

न सर्वथा तेऽभिमतौ विरुद्धौ ॥४८॥

टीका——न तावत् द्रव्यमेवोति द्रव्यस्य व्यवस्था सकलपर्यायरहितस्य प्रपाणागोचरत्वात्, न हि प्रत्यक्षं द्रव्यविषयं स्य वर्तमानविषयत्वात् द्रव्यस्य त्रिकालगोचरानन्तविवर्तव्यापित्वात् । न च वर्तमानमात्रविषयत्वे प्रत्यक्षम्य सर्वात्मना त्रिकालविषयद्रव्यग्राहित्वं युक्तं योगिप्रत्यक्षत्वप्रसंगात् । तर्हि योगिप्रत्यक्षमेव द्रव्यविषयमिति चेत् न, अस्मदादिप्रत्यक्षस्य निर्विषयत्वप्रसंगात् । ननु अस्मदादिप्रत्यक्षस्यापि विधातुत्वात् सर्वदा निषेद्धृत्वे विधिविषयत्वविरोधात् निषेद्यानामानन्त्यादन्तेनापि कालेन निषेद्धृत्य कर्तुपश्चते स्तर्वोपक्षीणशक्तिक्त्वात् कदाचित्क्षणचिद्विद्यौ प्रवृत्त्यनुपपत्तेविधिविषयत्वस्यैव युक्तिमन्त्वमिति चेत्, नैतत्सारं, सद्ग्रद्रव्यमात्रे प्रत्यक्षस्य प्रवृत्तौ शाश्वदसत्त्वे प्रवृत्त्यभावात् तदव्यवच्छेदप्रसंगात् । यदि पुनः

सन्मात्रे विधौ प्रवर्तमानं प्रत्यक्षं तद्विलुप्तमसत्त्वं व्यवच्छिन-
क्षीति कथ्यते तदाऽपि निषेद्धृ प्रत्यक्षं कथं न स्यात् ? यदि पु-
नः प्रथमाक्षसन्निपातवेलायां निर्विकल्पं प्रत्यक्षं सन्मात्रमेव
साक्षात्कुरुते, पश्चादनाद्यविद्यावासनासामर्थ्यादिसत् निष्टित्ति-
विकल्पोत्पत्तेः प्रतिषेधव्यवहारोऽस्मदादेः प्रवर्त्तत इति मतं,
तदा परमार्थतो नासत्त्वनिष्टित्तिरिति सदसदात्मकवस्तुविषयं
प्रत्यक्षं प्रसन्न्येत । सन्मात्रस्य विशिरेवासत्त्वप्रतिषेध इति चेत्,
(न) कथमेवं विधात्रेव प्रत्यक्षं निषेद्धृत्वस्यापि तत्रेष्टः ? कथं च
स्वयमेव न निषेद्धृ प्रत्यक्षमिति ब्रुवाणः प्रतिषेधं सर्वथा निरा-
कुर्वीत न चेदस्वस्थः । अथाविद्यावलाङ्ग निषेद्धृ प्रत्यक्षमिति
निषेधव्यवहारः क्रियते परमार्थतस्तस्याप्यनभिधानात् किमे-
वमवाच्यं प्रत्यक्षमिष्यते ? तथेष्टौ सन्मात्रप्रत्यवाच्यं स्यात्,
तत्त्वयुक्ततरं परप्रत्यायनायोगात् – सन्मात्रं हि तत्त्वं परं
प्रत्याययेन्न संविन्मात्रेण पराप्रत्यक्षेण प्रत्याययितुमीशः;
परमार्थतः प्रत्याद्यप्रत्यायकभावाभावात् न क्वचित्किञ्चित्
कथंचित् प्रत्याययति सर्वस्य स्वत एव सन्मात्रतत्त्वप्रतिष्ठेत्तिरिति
चेत्, न विप्रतिष्ठयभावप्रसंगात् । यदि पुनः सन्मात्रे तत्त्वे
स्वपरविभागाभावात् सर्वस्य भेदस्य तत्रैवानुपवेशान्न कश्च-
त्कुरुत्तिचक्त्यंचित्कदाचिद्विप्रतिष्ठयत इति चेत्, न स्यदेतदे-
वं यदि स्वपरविभागाभावः सिद्धेत्, स हि न तावत्प्रत्यक्षतः
सिद्धस्तस्याभावविषयत्वप्रसंगात्, नाऽप्यनुमानात्पक्षहेतुदृष्टांत-
बैदाभावेऽनुमानानुपत्तेः, कल्पितस्याप्यनुमानस्य विशिवि-

वयत्वनियमात्, तस्य प्रतिषेधविषयत्वे प्रत्यक्षस्यापि प्रतिषेधवि-
षयत्वसिद्धेः कुतः सन्मात्रत्वसिद्धिः? आगमात्स्वपरविभागाभा-
वः साध्यत इति चेत्, न, स्वपरविभागाभावे क्वचिदागमा-
नुपपत्तेः । आगमो ह्यास्वचनमपौरुषेयं वा वचनं स्यात् ? न
तावदासस्य तत्प्रतिपाद्यस्य च विनेयस्याभावे वचनमासस्य प्र-
वर्तते । तत्सङ्गावे च सिद्धः स्वपरविभाग इति कथमागमात्त-
दभावः सिध्येत् ? यदि पुनरपौरुषेयं वचनमागमस्तदाऽपि
स्वपरविभागः सिद्धस्तद्व्याख्यातुः श्रोतुश्च सिद्धेः स्वपरविभा-
गोपपत्तेः । स्यान्मतं, स्वपरविभागाभावोऽपि न कुतश्चित्प्रमा-
णात्साध्यते प्रत्यक्षतः सन्मात्रसिद्धेरेव स्वपरविभागाभावस्य
साधनात्केवलमविद्याविलासमात्रं प्रतिपाद्यप्रतिपाद्यभावः सं-
वेद्यसंवेद्यभाववदिति । तदप्यसम्भक्, संवेद्यसंवेद्यभावप्र-
तिपाद्यप्रतिपाद्यभावाभावे स्वपरप्रतिपत्तिविरोधात् सर्वथा
शून्यवादावकाशप्रसंगात् ।

तदुक्तम्—

सर्वथा सदुपायानां वादमार्गः प्रवर्तते ।

अधिकारोऽनुपायत्वान् वादे शून्यवादिनः ॥ इति ॥

तदेतदत्रापि संपासुं । तथाहि—

सर्वथा सदुपायानां वादमार्गः प्रवर्तते ।

अधिकारोऽनुपायत्वान् वादे सत्त्ववादिनः ॥

ननु च विद्यारात्पूर्वं तत्त्वाभ्युपगमः पश्चाद्ब्रा ? यदि पूर्वं तदा
निष्कलो विद्यारः स्यात्, तत्त्वाभ्युपगमफलत्वाद्विवारस्य,

तस्य विचारात्पागेव सिद्धेः । पश्चाचेत् मर्वस्याविचाररपणीयेन
लोकव्यवहारेण विचारस्य प्रवृत्तेर्न पर्यनुयोगो युक्तः, विचा-
रकाले हि न कश्चिदपि शून्यवादी सत्ताद्वैतवादी वा, येन
सर्वथाऽनुपायत्वाद्वादेऽनधिकारः प्रसज्येत ! अनेकान्तवादि-
नामपि तद्विचारोत्तरकालभेव सर्वमनेकान्तात्पकं तत्त्वमिति
प्रतिपत्तव्यं, कथमन्यथा परस्पराश्रयाख्यो दोषो न स्यात्,
प्रसिद्धेऽनेकान्तत्वे विचारप्रवृत्तिस्तस्यां च सत्यामनेकान्तप्र-
सिद्धिरिति गत्यन्तराभावात् । किंचिदपि तत्त्वमनभ्युपगम्य
परीक्षाप्रवृत्तौ तु न कश्चिदोषः परीक्षोत्तरकालं यद्विनिश्चितं
तत्तत्त्वमिति व्यवस्थानात् । तथा च सत्ताद्वैतवादिनोऽपि वि-
चारसामर्थ्यात् सत्ताद्वैततत्त्वव्यवस्थितौ यथादर्शनं संवेद्यसंवेद-
कभावस्य प्रतिपाद्यमतिपादकभावस्य वा स्वपरविभागभाव-
नाधीनस्य प्रतिबंधकभावात्सर्वमनवद्यमिति केचित् । तदप्यति-
मुम्भुद्विजृभितं, किंचित्क्रिंतिपनाश्रित्य विचारस्यैवाप्र-
वृत्तेस्तस्य संशयपूर्वकत्वात्, संशयस्य च निर्णयनिबंधनत्वात् पू-
र्वनिर्णीतिविशेषस्य पश्चात् कवित्संशयस्यानुपलब्धेः स्था-
णुपुरुषसंशयवत् । य एव हि पूर्वनिश्चितस्थाणुपुरुषविशेषः प्र-
तिपत्ता तस्यैवान्यत्रोर्ध्वतासामान्यं प्रत्यक्षतो निश्चितवत्तम-
द्विशेषयोः स्परतः संशयोत्पत्तिदर्शनात् । न चैवं सत्ताद्वैततत्त्वं
किं वा सर्वथा शून्यमिति संशय उत्पद्यते पूर्वं तद्विषयनिर्ण-
यानुपत्तेः । किंचित्क्रिंतिपत्तौ वा न सत्ताद्वैतवादिनः शून्य-
वादिनो वा स्वेष्टसिद्धिः । यदि पुनः सर्वमभ्युपगम्य सत्ता-

द्वैतशून्यवादयोरपि कचित्कदाचित्तनिर्णयात्पुनरन्यत्र तत्त्व-
सामान्यमुपलब्धवत्स्तयोश्चानुस्परतः संशयप्रवृत्तेविचारः प्रव-
र्त्तत एवेति मतं, तदापि येनात्मना सत्ताद्वैतं पूर्वं निर्णीतं तेनैव
सर्वशून्यत्वं रूपान्तरेण वा ? न तावत्पथमः पक्षो व्याधातात्, रूपान्तरेण तु तन्निर्णये स्यादादमाश्रित्य विचारः प्रवर्त्तत
इत्येतदायातं । तथा च नानेकांतवादिनां विचारात्पूर्वमनेकांत-
त्वाप्रासिद्धिस्तदप्रसिद्धौ विचाराप्रवृत्तेः । न च विचारादेवानेकां-
तत्वसिद्धिः, प्रत्यक्षतः परमागमाच्च सुनिश्चितासंभवद्वाधकप-
माणादनेकांतत्वसिद्धेरप्रतिवंधात्, न चेव विचारानर्थक्यं तद्व-
लादेव तत्त्वसिद्धेरभ्युपगमात्, प्रत्यक्षादागमाच्च प्रतिपन्नतत्वस्या-
पि कुतश्चिद्दृष्टादृष्टनिपित्तवशात्कस्यचित्काचित्कथंचित् संश-
योत्पत्तौ विचारस्यावकाशात् सर्वत्राऽहेतुवादहेतुवादाभ्यामाज्ञा-
ग्रवानयुक्तिप्रधानयोस्तत्त्वप्रतिपत्तिविधानात् । ततोऽनेकान्तवा-
दिन एव दादेऽधिकारः सदुपायत्पात् । कचित् कदाचित् कथं-
चित् कुतश्चित् कस्यचिन्तिश्रयसद्वावात् । किंचिन्निर्णीतिमा-
श्रित्य कचिदन्यत्रानिर्णीते विचारप्रवृत्तेः सर्वत्र विप्रतिपन्नमाना-
नां निराश्रयविचारणानुपत्तेः ।

तथा चोक्तं तत्त्वार्थालंकारे-

किंचिन्निर्णीतिमाश्रित्य विचारोऽन्यत्र वर्तते ।

सर्वविप्रतिपत्तौ तु कचिन्नास्ति विचारणा ॥ इति ॥

सेतो न विचारसामर्थ्यात् सद्द्रव्यतत्त्वव्यदस्थानाऽपि उर्ध्याप-
तत्त्वव्यवस्था, द्रव्यविकलस्य पर्यायमात्रस्य सकलप्रसाणावि-

प्रयत्नात् द्रव्यैकान्तवत् । प्रत्यन्तो वर्तमानपर्यायः प्रतिभा-
सत् एव सर्वस्येदानींतनतया प्रतिभासमानत्वात् । नष्टानुत्पन्न-
योरिदानींतनतया प्रतिभासाभावादिति चेत्, नेदानींतनतया
एव द्रव्याभावे प्रतिभासविरोधात् नष्टानुत्पन्नावस्थाद्वितयमनपे-
क्षमाणस्य वर्तमानताप्रतीतेरयोगात्, नित्यत्वसाधनाच्चेदानींतन-
ताप्रतीतेः शब्दविच्छेदादात्मनोऽहंताप्रतीतिक्तु—यथैव ह्यात्मा
सुख्यहं दुःख्यहमिति सर्वदाऽप्यत्वच्छब्दाहंपत्यथविषयभावम-
नुभवन्न कदाचिदहंतां संत्यजतीति नित्यः, तथा वर्हिष्ठस्त्वपि
सततमिदानींतनतां न जहाति प्रागपि इदानीं पश्यामि पश्चा-
दपीदानीं पश्यामीति न सकलो देशो वा कश्चिद्विद्यते यत्रे-
दानींतनताप्रतीतिरास्तीति तदव्यवच्छेदः सिद्धः । ततः
समस्तं वस्तु विवादापन्नं नित्यमेवेदानींतनतया प्रतीयमान-
त्वात्, प्रतिक्षणविनाशित्ये तद्विरोधात् ।

स्यान्मतं, पूर्वेदानींतनतान्या पाश्चात्या च वर्तमानेदानींत-
नता, न ततस्तयोः संतानाविच्छेदः, प्रतिक्षणं तद्विच्छेदादि-
ति । तदसत्, तद्विच्छेदग्राहिणः कस्यचिदसंभवात् । न हि ता-
वत्सांप्रतिक्षिदानींतनतयाः संवेदनं पूर्वापरेदानींतनतासंवे-
दनविच्छेदं ग्रहीतुपलं तदा स्वयमभावात् । नाप्यनुमानं त-
द्विच्छेदाविनाभाविलिंगयहणासंभवात् । यो हि कदाचित्
क्षचित्पूर्वापरेदानींतनविच्छेदमूपलभते स एव तत्स्वभावस्य
तत्कार्यस्य वा लिंगस्य तेनाविनाभावं साकल्येन तर्कयेत्
न पुनरन्योऽतिप्रसंगात् । न च स्वयं पूर्वापरकालमव्याप्तुवन-

पूर्वपरेदार्नीतनतासंवदेनयोर्विच्छेदगुपलब्धुं समर्थः । सन्तानस्ताद्वक् समर्थ इति चेत्, न, तस्यावस्तुत्वे सकलसामर्थ्यानुपपत्तेः, वस्तुत्वे पुनरात्मन एव संतान इति नामकरणान्त्यात्मसिद्धेः । स्यान्मतिरेषा ते, पूर्वापूर्वेदार्नीतनतासंवेदनाहितवासनाप्रबोधात् तद्विच्छेदनिश्चयोत्पत्तेन नित्यात्मसंसिद्धिरिति, साऽपि न सम्यक् । पूर्वपरेदार्नीतनतानिश्चयस्यैव तत्संवेदनाहितवासनाप्रबोधादुत्पत्तेर्यथानुभवनिश्चयोपजननसंभवात् न पूर्वापूर्वविच्छेदोऽनुभूतः । ननु प्रत्यक्षतः स्वरूपानुभव एव संवेदनस्य पूर्वपरसंवेदनविच्छेदानुभव इति चेत्र तदविच्छेदानुभवस्यापि स्वरूपानुभवरूपत्वसिद्धेरप्रतिबंधात् । पूर्वस्मात् परस्माच्च संवेदनादिदं संवेदनं विच्छिन्नमिति निश्चयोत्पत्तेः संवेदनस्वरूपानुभवस्तद्विच्छेदानुभव एवेति चेत्, नाविच्छिन्नमहमामुहूर्तादेरन्वभवमित्यविच्छेदनिश्चयप्रादुर्भावात्तदविच्छेदानुभवस्यैव सिद्धेस्ततो निरंतरमिदार्नीतनतया वहिरन्तश्च वस्तुनः प्रतीयमानत्वं कथंचिन्नित्यत्वमेव साधयतीति नातः क्षणस्थितिपर्यायमात्रसिद्धिः नाप्यनुमानार्णिगाभावात् । यत् सत्तत्सर्वं क्षणस्थितीति पर्यायमात्रं नित्यद्रव्यमात्रे क्रमयोगपद्माभ्यामर्थक्रियाविरोधात्सर्वानुषपत्तेरित्यनुमानं पर्यायमात्रवस्तुसाधनमिति चेत्, न, विरुद्धसाधनादस्य विरुद्धत्वात् । तथा हि—यत् सत्तत्सर्वं द्रव्यपर्यायरूपं जात्यंतरं पर्यायमात्रे सर्वथाऽर्थक्रियाविरोधात् द्रव्यमात्रवत् सत्त्वायोगादिति निरूपितप्रायं । ततः सूक्तं न पर्यायैकांत-

व्यवस्था प्रमाणाभावात् द्रव्यैकांतवदिति । पृथग्भूतपरस्पर-
निरपेक्षद्रव्यपर्यायव्यवस्थाऽप्यनेन प्रत्यक्षा तत्राऽपि प्रमाणा-
भावाविशेषात् । न हि प्रत्यक्षतः सर्वया पृथग्भूतयोर्द्रव्यप-
र्याययोः प्रतीतिरस्ति तथोरविष्वग्भूतयोरेव सर्वदा संवेदनात् ।
समवायात्तथा प्रतीतिरिति चेत्, सोऽपि समवायस्ताभ्यां
पदार्थान्तरभूते न प्रत्यक्षतः सिद्धस्तदात्मकस्यैव कथंचित्स्य
प्रतीतेः । अथ समवायसमवायिनोः परस्परमात्मनोश्च ताभ्या-
मभेदप्रत्ययहेतुरित्यभिधीयते, न तर्हि प्रत्यक्षतो भेदप्रति-
भासो नाऽप्यनुपानात् द्रव्यपर्याययोर्भेदैकान्तः सिद्धस्तथावि-
धहेत्वभावात् । ननु द्रव्यपर्यायौ मिथो भिन्नौ भिन्नप्रतिभास-
त्वात् । यौ यौ भिन्नप्रतिभासौ तौ तौ भिन्नौ यथा घटयटौ तथा
च द्रव्यपर्यायौ भिन्नप्रतिभासौ तस्माद्विन्नावित्यनुपानात् मिथो
भिन्नद्रव्यपर्यायव्यवस्था भवत्येवेति चेत्, न, हेतोरसिद्धत्वा-
त्, भिन्नप्रतिभासत्वं हि द्रव्यपर्याययोर्न प्रत्यक्षतः सर्वयाऽस्ती-
ति समर्थितं प्राक् । अनुपानाद्विन्नप्रतिभासत्वमिति चेत् किम-
स्मादेवानुपानादनुपानान्तराद्वा । न तावदाद्यः पक्षः परस्परा-
श्रायानुष्ठानात् । सिद्धे श्वनोऽनुपानाद्विन्नप्रतिभासित्वे सतीदमनु-
पानं सिध्यति, सिद्धे वाऽस्मिन्ननुपाने भिन्नप्रतिभासत्वमिति
गत्यन्तराभावात् । अनुपानान्तराद्विन्नप्रतिभासत्वसिद्धौ तदेव
वाच्यं द्रव्यपर्यायौ भिन्नप्रतिभासौ विरुद्धधर्माधिकरणत्वात्
यौ यौ विरुद्धधर्माधिकरणौ तौ तौ सर्वया भिन्नप्रतिभासौ यथा
जलानलौ तथा च द्रव्यपर्यायौ तस्माद्विन्नप्रतिभासावित्यनुपा-

नस्य प्रत्यक्षविरुद्धपक्षत्वात् कालात्ययापदिष्टत्वाच्च हेतोर्नातः साध्यसिद्धिः । एतेनावयवावयविनोर्गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोः सामान्यतद्वतोः विशेषतद्वतोश्च परस्परतः सर्वथा भेदे साध्ये प्रयुज्यमानस्य हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वं प्रतिवर्णितं पक्षस्य प्रत्यक्षवाचित्तत्वात् । कथंचित् तादात्म्यवर्त्तिनोरेवाविष्वगभूतयोस्तयोः प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासनात् । कथंचिद्देदे साध्ये सिद्धसाध्यतापत्तिस्तत्र प्रत्यक्षस्य भ्रांतत्वादवाधकत्वे वहिर्न-
तश्च न किञ्चित् प्रत्यक्षतः सिद्धेत् भ्रांतादपि प्रत्यक्षात् कस्यचित्सिद्धौ प्रत्यक्षतदाभासव्यवस्था किमर्थमास्थीयेत् ? न च भ्रांतं प्रत्यक्षं धर्मिष्टष्टान्तहेतुव्यवस्थापनायालं, यतोऽनुपानपत्यंतभेदपवयवावयव्यादीनां व्यवस्थापयदभेदप्रतिभासिनः प्रत्यक्षस्य वाधकमनुयन्येमहि ततोऽनुपानं कस्यचिद्वाधकं साधकं वा स्वयमनुरूप्यपानेन प्रत्यक्षपञ्चान्तं धर्मिष्टष्टान्तहेतुविषयमुररीकर्त्तव्यं तचोररीकुर्वता न द्रव्यपर्यायौ परस्परपत्यंतभिन्नौ प्रतिज्ञातव्यौ प्रत्यक्षबुद्धौ सकृदपि तथा प्रतिभासाभावात् ततो न द्रव्यपर्यायपृथग्व्यवस्था युक्तिपती द्रव्यव्यवस्थावत्पर्यायव्यवस्थावच्चेति प्रपञ्चतोऽन्यत्र परीक्षितं प्रतिपत्तव्यम् ।

अत्रापरः प्राह, द्रव्यात्मकमेकं तत्त्वं व्यवतिष्ठते द्रव्यमात्रस्य पर्यायमात्रस्य च पृथग्भूतङ्गव्यपर्यायमात्रत्वं व्यवस्थानुपपत्तेरिति । सोऽप्येवं प्रष्टव्यः, किं सर्वथा द्रव्यात्मकमेकस्यार्थते कथंचिद्वा ? प्रथमपक्षे द्रव्यात्मकमेकार्पणाया विरुद्धं न व्यवतिष्ठत एव, यो हातम

द्रव्यप्रतीतहेतुर्यश्च पर्यायप्रतीतिनिमित्तं तौ चेत्परस्परं भिन्नावात्मानौ कथं तदात्मकमेकं तत्त्वं सर्वथा व्यवतिष्ठुने भिन्नाभ्यामात्म-भ्यापभिन्नस्यैकत्वविरोधात् । यदात्वेकस्मादभिन्नौ तावात्मानौ स्यातां तदाप्येकमेवावतिष्ठुते सर्वथैकस्मादभिन्नयोस्तयोरेकत्व-सिद्धेरिति न द्वयात्मयं विरुद्धत्वात् । को वावालिशः प्रमाणमंगी-कुर्वन् द्वावात्मानौ सर्वथैकस्थ वस्तुनो भिन्नौ स्वयपर्येत् ततो द्वयात्मयं द्रव्यात्मकत्वं तत्त्वं सर्वथैकार्पणया विरुद्धमेवेति मन्तव्यम् । कथमिदानीमविरुद्धं तत्त्वं सिध्येदिति चेत् , उच्यते—

“धर्मी च धर्मश्च पिथस्त्रियेवौ न सर्वथा तेऽभिष्ठौ विरुद्धौ” । ते तवः भगवतोऽहतः स्याद्वादिन इपौ प्रत्यक्षतः प्रतिभासमानौ सर्वथा सर्वेणाऽपि प्रकारेणानुषानादिपतिभासविशेषेण विरुद्धौ नेति संबंधः । कौ ताविष्टौ धर्मी च धर्मश्चेति धर्मिधर्मीविर्यर्थः । किं तौ सर्वथा पिथो भिन्नावेवाभिन्नावेव भिन्नाभिन्नावेव त्रिथा वा कल्पयेते । न तावत्प्रथमः पक्षः प्रवाणविरोधात् । नाऽपि द्वितीयः सहानवस्थाविरोधात् । नाऽपि तृतीयो विकल्पः, भिन्नौ वाभिन्नौ चेत्युभयदोषानुषंगेण विरुद्धत्वादिति कथमविरुद्धौ तौ यतस्तेऽभिष्ठताविति न मन्तव्यम्, त्रिथापि तयोराभिष्ठत्वात् । तथाहि-धर्मिधर्मी स्यादभिन्नौ द्रव्यार्थिकप्राप्तान्यात्, स्यानिथो भिन्नौ चाभिन्नौ च क्रपार्थितद्रव्यादिति त्रिभिः प्रकारैः स्याद्वादन्यायवादिभिर्यवस्थाप्यते । न पुनः सर्वथाऽर्थितौ त्रिथापि धर्मधर्मिणौ प्रत्य-

क्षादिप्रमाणविरुद्धो तेऽभिमतौ, ततो वाक्यं न धर्मपात्रं न धर्मिपात्रं वा प्रतिपादयतीति न सर्वथाप्यभिन्नौ धर्मधर्मिणौ न सर्वथा भिन्नौ नाऽपि सर्वथा भिन्नाभिन्नौ प्रतीतिविरोधात् । द्रव्यैकान्तस्य पर्याप्तिकान्तस्य च परस्परनिरपेक्षपृथग्भूतद्रव्यपर्याप्तिकान्तवत् व्यवस्थानुपपत्तेः समर्थनात्, तत्र युक्त्यनुशासनायोगात् । किं पुनर्युक्त्यनुशासनमित्याहुः—

हृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थ—

प्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते ।

प्रतिक्षणं स्थित्युदयव्ययात्म-

तत्त्वव्यवस्थं सदिहार्थरूपम् ॥ ४९ ॥

टीका—दर्शनं दृष्टं प्रत्यक्षं, आमृतचनपागमः । दृष्टं चागमश्च हृष्टागमौ ताभ्यामविरुद्धमवाधिनविषयं यदर्थात्साधनरूपादर्थस्य साध्यस्य प्ररूपणं तदेव युक्त्यनुशासनं युक्तिवचनं ते तत्र भगवतोऽभिमतिपदघटना । तत्रार्थस्य प्ररूपणं युक्त्यनुशासनमिति वचने प्रत्यक्षमपि युक्त्यनुशासनं प्रसज्येत तदव्यवच्छेदार्थमर्थात्प्ररूपणमिति व्यःरूपायते सापर्यादर्थस्य तदिति प्रतीतेः । तथाऽपि शीतोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवदिति, प्रत्यासुखप्रदो धर्मः कर्यत्वादधर्मवदिति च प्रत्यक्षविरुद्धमागमविरुद्धं चार्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं प्रामिति न शंकनीयम् । हृष्टागमाभ्यामविरुद्धमित्याभिधानात् । तथा चान्यथाऽनुपन्नत्वनियमनिश्चयलक्षणात् साधनात्साध्यार्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासन-

मिति प्रकाशितं भवति दृष्टागमाभ्यामविरोधस्यान्यथानुपपत्ते-
रिति देवागमादौ निर्णीतिप्रायम् । अत्रोदाहरणमुच्यते—प्रति-
क्षणं स्थित्युदयव्ययात्मार्थरूपं सत्त्वादिति । न तावत्प्रत्यक्ष-
विरुद्धः पक्षः, स्थित्युदयव्ययात्मनोऽर्थरूपस्य वहिर्दीपदेरिवांत-
रात्मनोऽपि साक्षादनुभवात्, स्थितिमात्रस्य सर्वत्रासाक्षात्कर-
णादुदयव्ययमात्रवत् । न चायं स्थित्युदयव्ययात्मनोऽर्थरूप-
स्थानुभवः सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाणात्प्रतिक्षणमनुपपन्नः
कालान्तरे स्थित्युदयव्ययदर्शनात्त्वतीतिसिद्धेरन्यथा सकृदपि
तदयोगात् खरविषाणादित्रिदिति न प्रत्यक्षविरोधः । नाऽप्याग-
मविरोधोऽस्य युक्त्यनुशासनस्य संभाव्यते । “उत्पादव्ययध्रौव्य-
युक्तं सदिति” परमागमस्य प्रसिद्धत्वात्सर्वयैकान्तागमस्या-
प्रसिद्धेऽष्टविरुद्धार्थाभिधायित्वात्पतारकपुरुषवचनवदिति नि-
रव्यः पक्षः प्रतिक्षणं स्थित्युदयव्ययात्मकस्य विवादाध्या-
सितस्य साध्यर्थस्य जीवादेरर्थरूपस्य च साध्यर्थर्मिणः प्र-
सिद्धस्याभिधानात् । तथा हेतुश्च सत्त्वादिति नासिद्धः सर्व-
त्रार्थरूपे तदभावे सर्वामावप्रसंगात् । नाऽपि संदिग्धः सर्वत्र
सत्त्वस्य संदेहे संदेहस्याऽपि सत्त्वनिश्चयविरुद्धत्वात् । नाप्य-
ज्ञातासिद्धो हेतुः सर्वस्य वादिनः सत्त्वपरिज्ञानाभावे वादित्व-
विरोधात् । नाप्यनैकान्तिकः कात्स्न्यतो देशतो वा विपक्षावृ-
तित्वात् । द्रव्येण स्थितिमता जन्मव्ययरहितेन सता पर्यायमा-
त्रेण चोत्पादव्ययवता स्थितिशून्येन हेतोरनेकान्त इति चेत्, न
सत्त्वस्य वस्तुत्वस्वरूपस्य हेतुत्वात् सत्त्वर्थर्मस्य नयविषयस्य

हेतुत्वानभ्युपगमात् । न च द्रव्यमात्रं वस्तु पर्यायमात्रं वा तस्य
वस्त्वेकदेशत्वात् द्रव्यपर्यायात्मनो जात्यंतरस्य वस्तुनः प्रमाण-
सिद्धत्वात् । न च द्रव्यस्य पर्यायस्य वा वस्तुत्वाभावादवस्तु-
त्वप्रसंगस्तस्य वस्त्वेकदेशत्वेन वस्तुत्वावस्तुत्वाभ्यामव्यवस्था-
नात् समुद्रैकदेशस्य समुद्रत्वासमुद्रत्वाभ्यामव्यवस्थानवत् ।
न च वस्तुत्वस्य सत्त्वस्य हेतुत्वे तदेकदेशेन द्रव्यसत्त्वेन पर्या-
यसत्त्वेन वा व्यभिचारोद्भावना युक्ता सर्वस्य हेतोर्व्यभिचारप्र-
संगात् सकलजनप्रसिद्धस्य वहयादिसिद्धौ धूमादिसाधन-
स्यापि तदेकदेशेन पांडुत्वादिना व्यभिचारमुद्भावयन् कथ-
मनेनापाक्रियेत् ? धूमस्य हेतुत्वे तदेकदेशेन पांडुत्वादिना न
व्यभिचारस्तन्मात्रस्याहेतुत्वादिति चेत् तर्हि सत्त्वस्य वस्तु-
त्वरूपस्य हेतुत्वेन तदेकदेशेन द्रव्यसत्त्वेन पर्यायसत्त्वेन वा
कथमनैकांतिकत्वमुद्भावयेत् न चेदस्वस्थः । ननु च सत्त्वं
वस्तुत्वविरुद्धं विपर्यशस्यैव साधनादिति न मन्तव्यम् ।
स्थितिमात्र इवोदयव्ययमात्रेऽपि तदसंभवात् । तथा हि-सत्त्व-
मिदर्थक्रियया व्याप्तं तदभावे तद्विरोधात् खपुष्पवत्, सा च
क्रमयौगपद्माभ्यां व्याप्ता तदभावे तदभावात्तद्वत् । ते च
क्रमयौगपद्मे प्रतिक्षणं स्थित्युदयव्ययात्मकत्वेन व्याप्ते तदस्थि-
त्येकान्तादुदयव्ययैकान्तादिव निवर्त्तमानं ततः क्रमयौगपद्मे
निवर्त्तयेत्, ते च निवर्त्तमाने स्वव्याप्त्यामर्थक्रियां निवर्त्तयतः,
सा च निवर्त्तमाना स्वव्याप्तं सत्त्वं निवर्त्तयतीति, ततो
निवर्त्तमानं सत्त्वं तीरादर्शिशकुनिन्यायेन प्रतिक्षणं स्थित्य-

द्यव्ययात्मन्येवार्थरूपे व्यवतिष्ठत इति व.थं विपर्ययं साध-
येद्यतो विरुद्धमभिधीयेत । सप्तके सत्त्वाभावादसाधारणानै-
कान्तिको हेतुरिति चेत्, कोऽयमसाधारणो नाम? सप्तकवि-
पक्षयोरसञ्चासाधारण इति चेत् स किं तत्र निश्चितासञ्चावः
संदिग्धासञ्चावो वा? प्रथमपक्षे नानैकांतिकः स्यात्, सर्वथा
विपक्षे निश्चितासत्त्वस्य सम्यग्हेतुत्वात्, सम्यग्हेतोऽर्थिपक्षासत्त्व-
नियमनिश्चयलक्षणत्वात् तदभावे सप्तके सतोऽपि गमकत्वायो-
गात् । सप्तकसत्त्वनियमस्य हेतुलक्षणत्वाव्यवस्थितेस्तदभावे-
ऽपि हेतोर्गमकत्वसिद्धेः । यदि पुनर्द्वितीयः पक्षः सप्तकविप-
क्षयोः संदिग्धासञ्चावोऽनैकांतिक इति चेत् तदा न सत्त्वादिति
हेतुरसाधारणानैकांतिकः प्रमाणबलाद्विपक्षे तस्यासञ्चावनि-
श्चयात् संशयासंभवादनैकांतिकत्वविरोधात् । संशयहेतुर-
नैकांतिक इति सामान्यतोऽनैकान्तिकलक्षणप्रसिद्धेः ।
ततोऽसद्विरुद्धानैकांतिकत्वविमुक्तत्वात्सूक्ष्मिदं युवत्यनुशा-
सनोदाहरणं प्रतिक्षणं स्थित्युदयव्ययात्मकपर्यरूपं सत्त्वादि-
ति । ननु च येन रूपेण स्थितिर्वस्तुनस्तेन स्थितिरेव येनोद-
यस्तेनोदय एव येन व्ययस्तेन व्यय एवेति व्यवस्थायां नानै-
कान्तात्मकवस्तुसिद्धिः स्थित्याद्येकान्तस्यैव प्रसिद्धेः, इति न
ग्रन्तव्यं, तत्त्वव्यवस्थमिति वचनात्, तत्र स्थित्युदयव्ययात्मार्थ-
रूपं प्रतिक्षणादव्यवरथं न विद्यते व्यवस्थाऽस्येति व्याख्यानात् ।
येन हि रूपेण वस्तु तिष्ठति तेनोत्पद्यते नश्यति च, स्थितं
इयास्थति च उत्तम्बुत्पत्स्यते च नष्टं नंक्षति च । येन

चोत्पद्यते तेन तिष्ठति नश्यति च उत्पन्नं स्थितं नष्टं च उत्प-
त्स्यमानं स्थास्यनन्दद्यंशं । येन च नश्यति तेनोत्पद्यते तिष्ठति
च तथा नष्टमुत्पन्नं स्थितं च नन्दद्यत्स्युत्पत्स्यते स्थास्यति चेति न
कर्त्त्वचिद् व्यवस्था येनैकान्तप्रसंगः; कर्त्त्वचिदव्यवस्थितस्यैव
तत्त्वस्यार्थक्रियाकारित्वप्रसिद्धेः । पटमुदाहरणीकृत्य सर्वमेत-
द्रक्तव्यं, तथा हि-पटः प्रारंभक्षणापेक्षयोत्पद्यते तिष्ठति विनश्यति
चानारंभसमयापेक्षया द्वितीयक्षणापेक्षया तृतीयस्यते स्थास्यति
नंक्ष्यति च निर्वृत्तस्वरूपापेक्षयोत्पन्नः स्थितो नष्टश्च पूर्वावि-
निर्वृत्तरूपेणोति प्रातीतिकमेतत् ।

ननु चैकमेव वस्तु नानास्वभावमेवपरात् तत्त्वं विरुद्धं
कुतोऽवतिष्ठत इत्याहुः—

नानात्मतामप्रजहत्तदेक-
मेकात्मतामप्रजहत्त नाना ।
अंगांगिभावात्तव वस्तु तद्यत्
क्रमेण वाग्वाच्यमनन्तरूपम् ॥ ५० ॥

टीका—यदेकं वस्तु सच्चैकत्वप्रत्यभिज्ञानात् सिद्धं
तत्त्वानात्मतामपरित्यजदेव वस्तुत्वं लभते, समीचीननानाप्र-
त्ययविषयत्वात् यत्तु नानात्मतां जहाति न तद्वस्तु यथा पर-
परिकल्पितात्माद्वैतं, वस्तु च विवादापन्नं जीवादि तस्मान्ना-
नात्मतामप्रजहदेव प्रतिपत्तव्यं । तथा यद्वाधितनानाप्रत्ययब-
लानाना प्रसिद्धं तदेकात्मतामप्रजहदेव तत्र वस्तु सम्भवं तस्या-

न्यथा वस्तुत्वविरोधात् पराभ्युपगतनिरन्वयनानाद्यावत् । ततो जीवादिपदार्थजाते परस्पराजहद्वृत्त्येकानेकस्वभावं वस्तु-त्वान्यथानुपपत्तेरिति युक्त्यनुशासनं । तत्कथं वाचा वक्तुं शक्यत इति न शंकनीयं क्रमेण तस्य वाग्वाचित्वात् । न हि युगपदेकात्मतया नानात्मतया च वस्तूत्यते वाचा तादृश्या वाचोऽसंभवात् । न चैवं क्रमेण प्रवर्त्तमानाया वाचोऽसत्यत्व-प्रसंगस्तस्याः स्वविषये नानात्वे चैकत्वे चांगांगिभावात् प्रहृतेः । स्यादेकमेवेति वाचा हि प्रधानभावेनैकत्वं वाच्यं गुणभावेन नानात्वं स्याद्बानैव वस्तिति वाचा प्राधान्येन नानात्वं वाच्यं गुणभावेनैकत्वमिति कथमेवमेकत्वनानात्ववाचोरसत्यता स्यात् ? सर्वथैकत्ववाचा नानात्वनिराकरणात् नानात्वनिराकरणे हि तथैकत्वस्यापि तदविनाभाविनो निराकरण-प्रसंगादसत्यत्वपरिप्राप्तेरभीष्टत्वात् तथाऽनुपलभ्यमानत्वात् । नानात्ववाचा चैकत्वस्य निराकरणात्त्रिराकरणे तदविनाभाविनानात्वनिराकरणात् सत्यत्वविरोधात् । ततः क्रमेणानेतरूपं यद्वस्तु तत् तवांगांगिभावादेव वाग्वाच्यं बोद्धव्यम् । अंगं हप्रधानमंगि प्रधानं तज्ज्ञावो गुणप्रधानभावस्तमाश्रित्य नानात्वैकत्ववचने यथार्थाभिधायित्वमेव वाच्यं व्यबृत्तिष्ठुते ।

ननु च भवतु नामानेतरैर्मविशिष्टं वस्तु ते तु धर्माः परस्परनिरपेक्षा एव, पृथग्भूतश्च तेभ्यो धर्मीति मतमपाचिकीर्ष्यः प्राहुः—

मिथोऽनपेक्षाः पुरुषार्थहेतु-

नांशा न चांशी पृथगस्ति तेभ्यः ।

परस्परेक्षाः पुरुषार्थहेतु-

द्वृष्टा नयास्तद्वदासि क्रियायाम् ॥५१॥

टीका—अंशा धर्मा वस्तुनोऽत्रयवासते च परस्परनिरपेक्षाः पुरुषार्थस्य हेतवो न संभवन्ति तथाऽनुपलभ्यमानत्वात् । यद्यथाऽनुपलभ्यमानं तत्था न व्यवतिष्ठते यथाऽग्निः शीततयाऽनुपलभ्यमानस्तद्रूपतयाऽनुपलभ्यमानात्र पुरुषार्थहेतुतया परस्परनिरपेक्षाः सच्चादयो धर्माः कचिदवयवा वा तस्मान्मुरुषार्थहेतुतया व्यवतिष्ठन्त इति युक्त्यनुशासनं दृष्टागमाभ्यामविरुद्धत्वात्, तथांशाः परस्परापेक्षाः पुरुषार्थहेतुतया व्यवतिष्ठते तथैव दृष्टत्वात् । यद्यथा दृष्टं तत्त्वैव व्यवतिष्ठते, यथा दहनो दहनतया दृष्टः, तत्स्वभावतया दृष्टाश्च पुरुषार्थहेतुतयांशाः परस्परापेक्षाः तस्मात्तथैव व्यवतिष्ठत इति स्वभावोपलब्धिः स्वभावविरुद्धोपलब्धिर्वा स्वपरपक्वविधानप्रतिषेधयोर्बोद्धव्या । तथा नांशेभ्योऽशी पृथगस्ति तथाऽनुपलभ्यमानत्वात्, यद्यथाऽनुपलभ्यमानं तत्था नास्त्येव यथा तेजः शीततया, सर्वदाऽनुपलभ्यमानश्चांशेभ्यः पृथगंशी तस्मान्नास्तीति स्वभावानुपलब्धिः । न चत्र दृष्टिरोधः परस्परविभिन्नानामर्थानां सद्विद्यादीनामंशांशिभावस्यादृष्टत्वात् । न चागमविरोधस्तत्पतिपादकागमाभावात्, परस्परविभिन्नांशां

शिभावप्रतिपादकागमस्य युक्तिविरुद्धत्वादागमाभासन्वसिद्धेः ।

स्थान्मतमंशेभ्योऽशी पृथगेव पृथक्प्रत्ययविषयत्वात् । यो यतः पृथक्प्रत्ययविषयः स ततः पृथगेवयथा स्तम्भेभ्यः कु-
डं, पृथक्प्रत्ययविषयशांशेभ्योऽशी, तस्यात्पृथगेवेति । तदप्य-
सम्यक्, सर्वया पृथक्प्रत्ययविषयत्वस्य हेतोरसिद्धत्वात्कथंचि-
दपृथक्प्रत्ययविषयत्वात् । समवायादपृथक्प्रत्यय इति चेत्,
न, सर्वया भिन्नयोः समवायासंभवात् सद्विध्यवत् । संभव-
न्नपि सप्तायः पदार्थान्तरभूतः कथमिहांशेभ्यंशीति प्रत्यय-
हेतुरुपद्यते ! सहे विध्य इति प्रत्ययहेतुत्वप्रसंगात् । प्रत्या-
सत्त्विशेषादिहांशेभ्यंशीति प्रत्ययमुपजनयति समवायो न
पुनरिह सहे विध्य इति प्रत्ययमुत्पादयति प्रत्यासत्त्विशेष-
वाभावादिति चेत्, कः पुनः प्रत्यासत्त्विशेषः समवायसमवा-
यिनोः संभाव्येत ? विशेषणविशेष्यभाव इति चेत्, तर्हि
समवायिनोः समवायो विशेषणं किमर्थान्तरभूतप्रनर्थान्तरभूतं
वा ? यद्यर्थान्तरभूतं विशेषणं तदांशांशिनोरिव सद्विध्ययो-
रपि समवायो विशेषणं स्यादर्थान्तरभूतत्वाविशेषात् । यदि
पुनरनर्थान्तरभूतं विशेषणं सप्तायः समवायिनोरग्नेरौप्यवहु-
पवर्णयतेतदा : कथंचित्तादात्मयमेव समवाय इति नांशेभ्यो-
शी सर्वया पृथगवतिष्ठते तत्समवायस्यानिष्टमानलक्षणस्य
कथंचित्तादात्म्यस्यैव प्रसिद्धस्ततः परस्परापेक्षा एवांशांशिनः
पुरुषार्थहेतुरिति निश्चितप्रायं । तदूदेव नया नैगमादयः पर-
स्परापेक्षा एवासिक्रियायां दृष्टा इति घटनीयं । तथाहि-

नैगमादयो नयाः परस्परपेक्षाः पुरुषार्थहेतवस्तथादृष्ट्वा-
दंशांशिवत् । तदनेन स्थितिग्राहिणो द्रव्यार्थिकभेदा नैगम-
संग्रहव्यवहाराः, प्रतिक्षण्युत्पादव्ययग्राहिणश्च पर्यार्थिक-
भेदा क्रज्ञसूत्रशब्दसम्पिरुद्दैवंभूताः परस्परपेक्षा एव वस्तु-
साध्यार्थक्रियालक्षणपुरुषार्थनिर्णयहेतवो नान्यथेति दृष्टाग-
भाभ्यामविरुद्धपर्यपर्यग्नं यत्सत्तत्सर्वं प्रतिक्षणं स्थित्युदय-
व्ययात्मकमन्यथा सत्त्वानुपपत्तेरिति युक्त्यनुशासनमुदाहृतं
प्रतिपत्तव्यम् ।

ननु च परस्परनिरपेक्षाः नयाः क्वचिदपि पुरुषार्थप्रसा-
धयन्तोऽपि सत्तायात्रेण व्यवस्थितिं प्रतिपद्यते एव सांख्या-
भिमतपुरुषवदिति न मन्तव्यम् । तेषामसिक्रियायामपि हेतु-
त्वानुपपत्तेस्तद्वत्, यथैव हि परस्परनिरपेक्षा नयाः पुरुषार्थ-
क्रियायां धर्मर्थकामयोक्तलक्षणायां हेतवो न संभवति तथा-
सिक्रियायामपि सत्तालक्षणायां खरविषाणादिवत्, ततः
परस्परपेक्षा एव प्रतिक्षणं स्थित्युत्पत्तिव्ययाः सत्त्वं वस्तुल-
क्षणं प्रतिपद्यते इत्यनेकांतसिद्धिः । स्यादाकूतं, जीवादिक-
स्तुनोऽनेकांतात्मकत्वेन निश्चये स्वात्मनीव परात्मन्यपि रागः
स्यात्कर्थचित्स्वात्मपरात्मनोरभेदाकृत्या परात्मनीव स्वात्मन्यपि
द्रेषः स्यात्तयोः कर्थचिद्देशात्, रागद्रेषनिवंशनाशवेष्यासु-
यामदमानादयो दोषाः संसारहेतवः सकलविक्षेपकारिणः
स्वर्गापिवर्गप्रतिबंधकारिणः प्रवर्त्तन्ते, ते च प्रवर्त्तमानाः
समत्वं मनसो निवर्त्तयन्ति, तद्विनिवर्तनं समाधिं निश्चणद्वीति

समाधिहेतुकं निर्वाणं कस्यचिच्च स्यानातो पोक्षकारणं पनः-
सप्तत्वं समाधिलक्षणमिच्छता नानेकांतत्मकत्वं जीवादिवस्तु-
नोऽभ्युपगन्तव्यमिति । तदपि न समीचीनमित्याहुः—

एकान्तधर्माभिनिवेशमूला

रागादयोऽहंकृतिजा जनानाम् ।

एकान्तहानाच्च स यत्तदेव

स्वाभाविकत्वाच्च समं मनस्ते ॥ ५२ ॥

यीका-एकान्तो नियमोऽवभासणं, धर्मो नित्यत्वादिस्व-
भावः, एकान्तेन निश्चितो धर्म एकान्तधर्म इति पृथ्यपद-
लोपी समाप्तः । ‘तृतीयान्तात् क्त उत्तरपदे’ इत्युपसंख्यानात्
“गुडेन संस्कृता धाना गुडधानाः” इत्यादिवत् । एकान्तधर्मेऽ-
भिनिवेश एकान्तधर्माभिनिवेशः, नित्यमेव सर्वथा न कथं
चिदनियमित्यादि मिथ्यात्वश्रद्धानं मिथ्यादर्शनमिति यावत् ।
एकान्तधर्माभिनिवेशो मूलं कारणं येषां ते एकान्तधर्माभिनिवे-
शमूलाः, रागादयो रागद्वेषमायामाना अनंतानुवन्धिनोऽप्रत्या-
ख्यानावरणाः प्रत्याख्यानावरणाः संज्वलनाश्च कषायाः,
तथा हास्यादयो नव नोकषायाक्षादिग्रहणेन गृह्णन्ते । ननु
च रागो लोभस्तदादयो दोषाः कथं मिथ्यादर्शनमूलाः
स्युरसंयतसम्यग्वृष्ट्यादिषु सूक्ष्मप्राप्तरायांतेषु मिथ्यादर्शना-
भावेऽपि भावात् इति न मन्तव्यम्, तेषामनन्तसंसारकार-
णानां मिथ्यादर्शनाभावे संभवाभावात् मिथ्यादशां मिथ्या-

दर्शनसङ्गाव एव भावात् पिथ्यादर्शनमूलत्वसिद्धेः । परेषां
पुनरसंयतसम्यग्वृथादिषु लोभादीनामसंयमशमादकषायपरि-
णाममूलत्वेऽपि पिथ्याहशि पिथ्यादर्शनसङ्गाव एव भावा-
न्निपथ्यदर्शनमूलत्वसिद्धिः । यदेवमुदासीनावस्थायामपि
पिथ्यादर्शनामामेऽन्तवादिनां रागादयो जायेरन्निति न शंक-
नीयमहंकृतिजा इति वचनात् । अहंकृतिरहंकारोऽहमस्य
स्वापीति जीवपरिणामः सामर्थ्यादिदं मम भोग्यमित्यात्म-
परिणामो ममकारः प्रतिपादितो भवति, अहंकृतेर्जाता अहं-
कृतिजा ममकाराहंकारजा इत्यर्थः । तेन पिथ्यादर्शनप-
रिणाम एव यदा ममकारोऽहंकारसचिवो भवति तदैव रागा-
दीनुपजनयति न पुनरुदासीनदशायामित्येकान्ताभिनिवे-
शमहामोहराजजनिता एव रागादयः ।

तथा चोक्तम्—

ममकाराहंकारौ सचिवाविव मोहनीयराजस्य ।

रागादिसकलपरिकरपरिपोषणतत्परौ सततम् ॥ इति ॥

ननु च भवतु नाम रागादयोऽहंकारजन्मानो जनानां मोहवतां,
बीतपोहानां तु सत्यप्यहंकारे रागाद्यभावात् कथं ते तज्जाः
स्युरिति न चोद्यं, पिथ्यादर्शनादिसहकारिण एवाहंकारस्य रागा-
दिजनने सामर्थ्याचाद्विकलस्यासामर्थ्यात् । न चावश्यं कारणा-
नि कार्यं जनयति मुमुर्गंगांगारावस्थाग्निवत् । ननु चैकान्ताभिनि-
वेशो पिथ्यादर्शनमिति कुतो निश्चीयत इति चेत्, अनेकां-
शात्मकस्यैव वस्तुनः प्रमाणतो निश्चयात्, सञ्चयाच्च सम्यगे-

कान्तस्य प्रतिपक्षापेक्षस्य व्यवस्थापनाचैकान्ताभिनिवेशस्त्वं
मिथ्यादर्शनत्वप्रसिद्धेरिति निर्णीतभाय । ततः सम्यग्द्वेरे-
कांतहाने तद्विरोधिनोऽनेकांतस्य निश्चयात्तस्यैवैकांतहानात्
स एकांतधर्मभिनिवेशो यतदेव स्थात् यत्किञ्चित्स्याज्ञ
स्यादित्यर्थः । सति हेकांतधर्मे कस्यचित्तदभिनिवेशः संभा-
व्यते तस्य तद्विषयत्वात्, तदभावे तु यद्वास्तवं रूपमात्मनो
ष्ठार्थदर्शनं तदेव स्यादेकांताभिनिवेशाभावस्य सम्यग्दर्श-
नभावरूपत्वात्, तस्यैव स्वाभाविकत्वं सिद्धयेदात्मनः स्वाभा-
विकत्वाच्च समं यनस्ते तव भगवतोऽहंतो युक्त्यनुशासने
सद्दृष्टेर्भवतीति वाक्यार्थः । दर्शनमोहोदयमूले हि चारित्रमो-
होदये जायमाना रागादयो जनानामस्वाभाविका एव ते-
षामौदयिकत्वात्, हड्डमोहोदयहानाच्च चारित्रमोहोदयहाने
रागादीनामभवात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामानां स्वा-
भाविकत्वं । तत्सम्यग्दर्शनस्यौपशमिकत्वं क्षायोपशमिकत्वं
क्षायिकत्वं वा स्वाभाविकत्वमात्मरूपत्वात् । सम्यग्ज्ञानस्य
क्षायोपशमिकत्वं क्षायिकत्वं वा । सच्चारित्रस्य तु सदर्शनवदौ-
पशमिकत्वादित्रयं स्वाभाविकत्वं न पुनः परिणामिकत्वं
तस्य कर्मोपशमादिनिरपेक्षत्वात् । कथमसंयतसम्यग्द्वेरः सर्वं
मनः स्यादसंयमस्य रागद्वेषात्मनः सज्जावादिति चेत्, इच्छ-
देकाते रागाभावात्परत्र द्वेषाभावाच्च विवक्षिताविवक्षितयोरे-
कान्तयोरुदासीनत्वसिद्धेरविवक्षितस्याप्यनिराकरणात् तन्मा-
त्रस्य मनःसमस्य सज्जावादिति ब्रूपः । नन्वेवमसंयतसम्यग्द-

हेरपि संयतत्वप्रसंगो मनसः समत्वस्यैव संयमरूपत्वादिति चेत् , क एवमाह सर्वया संयमस्याभावोऽसंयतसम्यग्दृष्टेरिति तस्यानंतानुवंशिकषाधात्मनोऽसंयमस्याभावात् संयतत्वसिद्धेः । कथमस्यासंयतत्वमिति चेत् , मोहद्वादशकात्मनोऽसंयमस्य सञ्ज्ञावाच्चत् एवानंतानुवंश्यप्रत्याख्यानकषाधायात्मनोऽसंयमस्याभावात् प्रत्याख्यानसञ्ज्वलनकषाधायात्मनोऽसंयमस्य सञ्ज्ञावात्मसंयतासंयतसम्यग्दृष्टिः समभिधीयते । नन्देवं प्रमत्तसंयतादि सूक्ष्मसाम्परायान्तः संयतासंयतः प्रसज्येत् सञ्ज्वलनकषाधायात्मनो नोऽकषाधायात्मनश्चासंयमस्य सञ्ज्ञावादिति चेत् , न, सञ्ज्वलनकषाधायादेवसंयमत्वेनाच्चिवक्षितत्वादुदकराजिसमानत्वेन मोहद्वादशकाभावरूपसंयमादिरोधित्वात्परमसंयमानुकूलत्वाच्चेति कषाध्यःभुतादवबोद्धव्यसु । यथा चासंयतसम्यग्दृष्टेः स्वानुरूपमनःसाम्यापेक्षया समं मनः सिद्धं तथा संयतासंयतस्य च नवविधस्येति न किञ्चिदसंभाव्यं ततोऽनेकान्तयुक्त्यनुशासनं न रागादिनिमित्तं तस्य मनःसमत्वनिमित्तत्वात् ।

नन्वनेकान्तवादिनोऽप्यनेकान्ते रागात् सर्वथैकान्ते च द्वेषात् कथमिव समं मनः स्यात् यतो मोक्ष उपपद्यते ? सर्वदा मनःसमत्वे वा न वंध इति स्वमताद्वाद्यौ वंधमोक्षौ स्यातां मनसः समत्वे वासमत्वे च तदनुपपत्तेरिति वदन्तं प्रत्याहुः—

प्रमुच्यते च प्रतिपक्षदूषी

जिन ! त्वदीयैः पटुर्सिंहनादैः ।

एकस्य नानात्मतयाज्ञवृत्ते-

स्तौ वंधमोक्षौ स्वमतादवाह्यौ ॥ ५३ ॥

थीका—प्रतिपक्षं प्रतिद्वंद्विने दूषयति निराकरोत्येवंशीलः
प्रतिपक्षदूषी प्रतिद्वन्द्वनिशकारी नित्यत्वैकान्तवादी क्षणिका-
द्यैकान्तवादी च । स प्रमुच्यते च प्रमुच्यते एवानेकांतयादिनान्
पुनस्तत्र द्रेषः क्रियते सामर्थ्यं प्रतिपक्षस्वीकारी वाऽनेकांतवादी
स्वीकृत एव न पुनस्तत्र रागः क्रियत इति चशब्दस्यैवकारार्थ-
त्वाद् व्याख्यायते । कैः पुनर्देहभूतैरित्युच्यते—जिन । त्वदीयैः
पदुसिंहनादैः । किं खपतयेत्यमिधीयते—एकस्य नानात्मतयेति
स्यादेकमेव वस्तु स्यानानात्मेत्यादयः शब्दाः सिंहनादाः ।
सिंहनादा इव सिंहनादा इति समाधिः शब्दान्तरैर्न्यकर्तुपक्ष-
वयत्वात् । यथैव हि सिंहनादा कुंजरादिनादैर्न तिरसर्तु श-
वयन्ते तथा जिननाथस्य नादाः समग्नेकान्तप्रतिपादकाः
क्षणिकाद्यैकान्तप्रतिपादकैः सुगतादिशब्दैर्न कथं विजिराकि-
यन्ते इयुक्तं भवति । पटव्यैते निःसंशयत्वात् सिंहनादा-
शावाध्यत्वात् पदुसिंहनादास्तैरेव हेतुभूतैः प्रतिपक्षदूषी प्रमु-
च्यते व्याच्छिच्छते युक्तिशास्त्राविरोधिभिः परमागमवाक्यैर्ना-
नात्मकैकवस्तुनिश्चयस्यैव सर्वैकान्तप्रयोचनस्य सिद्धेस्तत्र
द्रेषासंभवादनेकान्तरागासंभवत्वत् । न हि तत्त्वनिश्चय एव
रागः क्षीणमोहस्यापि रागप्रसंगात्, नाप्यतत्त्वच्यवछेद एव
द्रेषः शब्दः प्रतिपादयितुं यतोऽनेकांतवादिनः सम् पनो न
भवेत्, तन्निमित्तश्च मोक्षः कथं न स्यात् ? न च सर्वैषा सम-

त्वमेव पनसः सर्वत्र सर्वदोत्पद्यते यतो रागदेषाभावाद्धंधाभावः
प्रसञ्ज्येत ? कथंचित् कचित् किञ्चित् कदाचित् गुणस्थानापे-
क्षया पुण्यबंधस्योपपत्तेस्ततस्तौ बंधमोक्षौ स्वपतादनंतात्पकत-
त्वविषयादयाह्वौ तत्रैव भावात् तयोर्ज्ञवृत्तेः । जानातीति इह
आत्मा । ज्ञे वृत्तिर्वृत्तिस्तत इति प्रधाने नैकात्मन्यपि न तौ
तस्याङ्गत्वादिति निवेदितं भवति ।

स्यान्मतं, नैकस्य नानात्मनोऽर्थस्व प्रतिपादकाः शब्दाः
पदुसिद्धादाः प्रसिद्धाः सौगतानामन्यापोहसामान्यस्य वागा-
स्थदत्ताद्वाचां वसुरिष्यथस्यासंभवादिति । तदसदेव यस्मात्—

आत्मान्तराभावसमानता न
वागास्पदं स्वाश्रयभेदहीना ।
भावस्य सामान्यविशेषवत्त्वा—
देवये तयोरन्यतरान्निरात्म ॥५४॥

टीका—गोः स्वभावादन्यः स्वभावः स्वभावान्तरमात्मान्त-
रमगवात्मा ? तस्याभावो व्याघृतिः स एव समानता सामा-
न्यं, सा वाचामास्पदं न भवत्येव, कीदृशी सा न वागास्पदं,
स्वाश्रयभेदहीना स्वस्य आत्मान्तराभावसमानताया आश्रयाः
स्वाश्रयाः । स्वाश्रयास्ते च भेदाश्च, तैर्हीना अन्यापोहसामा-
न्यविशेषवाक्शून्येऽपि यावत् । कुतः सा न तादृशी वागास्पद-
पिति साध्यते ? भावस्य वस्तुनः सामान्यविशेषवत्त्वात् । ननु
च समान्यविशेषवत्त्वेऽपि भावस्य सामान्यस्यैव वागास्पदत्वं

युक्तं विशेषस्य तदात्मकत्वात्सामान्यविशेषयोरैक्यसिद्धिरिति
वचने दृष्टगम्भुज्यते—ऐक्ये तयोः सामान्यविशेषयोरन्यतरत्सा-
मान्यरूपं विशेषरूपं वा निरात्म स्यात् । तत्र विशेषरूपस्य
निरात्मत्वे तदविनाभाविनः सामान्यरूपस्यापि निरात्मत्वापत्तेः
सर्वे निरात्मकत्वं प्रसङ्ग्येत, सामान्यरूपस्य च निरात्मत्वे
विशेषरूपस्यापि तदविनाभाविनो निरात्मत्वानुषंगाभ्यु तयोरै-
वयपभ्युपगन्तव्यम् ।

ननु च सर्वगतं सामान्यं विशेषैरश्लिष्टमेव बागास्पदं,
न पुनरात्मान्तरापोहसामान्यं तस्यावस्तुत्वादिति वदन्तं प्रति
वदन्ति—

अमेयमश्लिष्टममेयमेव

भेदेऽपि, तद्वृत्त्यपवृत्तिभावात् ।

वृत्तिश्च कृत्स्नांशविकल्पतो न,

मानं च नानन्तसमाश्रयस्य ॥ ५५ ॥

दीका—नियतदेशकालाकारतया न पीयत इत्यमेयं, सर्व-
व्यापि नित्यं निराकारं सत्त्वादिसामान्यं तदश्लिष्टं विशेषैर-
मेयमेवाप्रमेयमेव प्रमाणतः प्रमातुमशक्तेः । प्रत्यक्षतस्तत्प्रभिति-
रप्रसिद्धा तत्र तदप्रतिभासनात् ब्रह्मवत् । नाध्यनुमानतस्तत्प्र-
धीयते तदविनाभाविलिंगाभावात् । सत्सदित्याद्यनुवृत्तिप्रत्य-
यो लिंगप्रिति चेत् न, असदसदित्याद्यनुवृत्तिप्रत्ययेन व्यभिचा-
रात्, तस्यासत्त्वसामान्याभावेऽपि भावात् पदार्थत्वसामान्याभा-

वेऽपि पद्मु पदार्थेषु पदार्थः पदार्थ इत्यनुवृत्तिप्रत्ययस्य सिद्धेः । स्यादाकूतं, प्रागसदादिष्वसदसदित्यनुवृत्तिप्रत्ययेन न व्यभिचारस्तस्य मिथ्यात्वात् न हि सम्यग्नुवृत्तिप्रत्ययस्य मिथ्यात्वानुवृत्तिप्रत्ययेन व्यभिचारो युक्तोऽतिमिसंगादिति । तदप्यसम्यक्, तस्य मिथ्यात्वासिद्धेः । प्रागसदादिषु मिथ्यैवासदित्यनुवृत्तिप्रत्ययो वाधकसञ्चावादिति चेत्, किं तद्वाधकं ? प्रागभावादयो न सामान्यवंतो द्रव्यगुणकर्मभ्योऽन्यत्वात् सामान्यविशेषसमवायवदित्यनुभानं तद्वाधकं । तदविषयस्य सामान्यस्य तेन निराकरणादिति चेत्, न, अस्यानुभानस्य साध्याविनाभावनियमनिश्चासन्वात् । यस्तु सामान्यवान्न स द्रव्यगुणकर्मभ्योऽन्यो यथाऽयपर्थ इति व्यतिरेकाश्रयासिद्धिः । स्यान्मतिरेषा द्रव्यादिपदार्थत्वेन सामान्यवच्चं ज्ञास्ते विनिश्चित्य प्रागभावादिषु द्रव्यगुणकर्मपदार्थत्वस्य व्यापकत्वस्याभावात् तद्व्याप्यस्य सामान्यत्वस्याभावः साध्यते ततो नाविनाभावनियमोऽसिद्ध इति, साऽपि न साध्वी द्रव्यादिपदार्थत्वेन सामान्यवच्चस्य व्याप्त्यसिद्धेस्तेषामपि सामान्यशून्यत्वात् । तथा हि—सामान्यशून्यानि द्रव्यगुणकर्मणि तत्त्वात्मकत्वात् प्रागभावादित् । नेह साधनशून्यो दृष्टान्तः प्रागभावादेसदृग्मस्य तत्त्वरूपत्वाभ्यनुज्ञानात् सदसदृग्मत्वमिति वचनात् तस्यातत्त्वरूपत्वे सर्वत्रासत्प्रत्ययस्य मिथ्यात्वापत्तेनाद्यनंतसर्वात्मतत्त्वानुषंगात् ।

तथा चोक्तम्—

“कार्यद्रव्यमनादि स्यात्प्रागभावस्य निहनवे ।

प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनेततां व्रजेत् ॥

सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे ।

अन्यत्र समवायेन व्यपदिश्येत् सर्वथा ॥” इति ।

द्रव्यगुणकर्माणि सामान्यवंति मुख्यसद्गत्वात्, वै
तु न सामान्यवंतस्ते न मुख्यसद्गार्ता यथा सामान्यविशेषस-
मवाया इति केवलव्यतिरेकिणानुपानेन प्रतिपक्षेण सत्त्व-
तिपक्षत्वात् सामान्यवच्चाभावसाधनस्य तत्त्वात्पक्त्वा-
दित्येतस्य हेतोर्न गमकत्वमिति चेत्, नाऽध्य प्रतिपक्षानुपा-
नस्य प्रत्यक्षवाधितविषयतया कालात्ययापदिष्टत्वात् । नदि
प्रत्यक्षबुद्धौ द्रव्यादिषु सामान्यमेकं पदार्थान्तरं प्रतिभासते
समानानि द्रव्याणीमानि गुणा वा कर्माणि वेति प्रतिभास-
नात्सद्वशपरिणामस्यैव प्रतीतेस्तद्यपनुवृत्तिप्रत्ययस्तदेवेदमि-
त्यकारोऽसिद्ध एवेति । न सामान्ये लिङं यतः सामान्यमनु-
भानतो मेर्यं स्यात् । तत एव नागमतो मेर्यं युक्तयननुगृहीत-
स्यागमस्यापमाणात्वादन्यथाऽतिप्रसंगात् । न चोपमानतो मेर्यं
सामान्यसद्वशस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽसंभवादिति न सामान्ये
तद्वतो भिन्नमनियतदेशकालाकारं प्रमेयवतिष्ठते । तथा भे-
देष्यभ्युपगम्यमाने सामान्यस्य स्वाश्रयेभ्यो न तत्प्रमेयं तद्वृ-
त्यपवृत्तिभावात् । तेषु द्रव्यादिषु वृत्तिस्तद्वृत्तिस्तस्या अपवृ-
त्तिव्यावृत्तिस्तस्या भावः सद्वावस्तस्मात् तद्वृत्यपवृत्तिभा-
वान् सामान्यं प्रमेयं भेदेऽपीत्यर्थः । सामान्यस्य स्वाश्रयेषु
वृत्तिन तावत्संयोगः कुंडे वद्रवत्संभवति तस्याद्रव्यत्वात्

संयोगानाश्रयत्वात्, संयोगस्य द्रव्यनिष्ठत्वात् । नाऽपि सम-
वायो दृच्छिस्तस्यायुतसिद्धिविषयत्वात्, न च सामान्यतद्वतोर-
युतसिद्धिः संभवति । सा हि शास्त्रीया वा स्यालौकिकी वा ? न
तात् शास्त्रीया तयोः पृथगाश्रयाश्रयित्वेन युतसिद्धेरेव संभवात्,
पृथगाश्रयाश्रयित्वं युतसिद्धिरिति वचनात् । यथैव हि कुण्डे
परमाणुरित्यत्र परमःणोः पृथग्भूतेषु कुण्डावयवेषु स्वाश्रयेषु कुण्ड-
स्याश्रयित्वं पृथगाश्रयित्वं तथा सामान्यात्पृथग्भूतेषु स्वाश्रयेषु
द्रव्यादेराश्रयित्वं पृथगाश्रयित्वं युतसिद्धिलक्षणं विद्यत एव ।
यदि एुनः कुण्डस्य स्वाश्रयेषु स्वावयवेषु वदरस्य च स्वावय-
वेष्वाश्रयेष्वाश्रयित्वमिति कुण्डवदरयोः पृथगाश्रयाश्रयित्वं पृथ-
गाश्रययोराश्रयणी पृथगाश्रयणी तयोर्भाविः पृथगाश्रयाश्रयित्वं
चतुराश्रयमेवाभिधीयते तदा कथमिह कुण्डे परम णुरिति परमा-
णुकुण्डयोर्युतसिद्धिः स्यात्तलक्षणाभावात् । अथ मतमेतत्, न
परमाणोः कुण्डे दृच्छिस्तस्य निरवयवत्वादाकाशादिवत् । तद-
प्यसारं, भयदभ्युपगतस्य सामान्यस्य निरवयविनो गुणादेश
कचिद् दृश्यभावप्रसंगान्निरशत्वाविशेषात्, परमाणुकुण्डयोर्युतसि-
द्धयमावे चायुतसिद्धिप्रसंगात्संयोगविरोधात्सप्तवायप्रसंगो दु-
निवार इति तयोः संयोगमिच्छता पृथगाश्रयाश्रयित्वं युतसि-
द्धिलक्षणं त्याश्रयमपि प्रतिपत्तव्यं । नित्यानां च पृथगति-
मन्त्रमिति लक्षणांतरस्यासंभवादात्माकाशादीनामयुतसिद्धि-
प्रसंगात्तद्वत्सामान्यतद्वतोरपि तत्सिद्धमिति न शास्त्रीयाऽयुत-
सिद्धिः । नाऽपि लौकिकी देशकालाभेदलक्षणा दुर्धांभसोर-

प्ययुतसिद्धिप्रसंगात् ततो न सामान्यस्य द्रव्यादिषु वृत्तिः संभवति । 'वृत्तिश्च कृत्स्नांशविकल्पतो न' वृत्तिरभ्युपगम्यमानापि सामान्यस्य तद्वस्तुनेति संबंधः, चशब्दस्यापि शब्दार्थत्वात् । तथा हि—कृत्स्नविकल्पे वृत्तिः स्यादंशविकल्पे वा ? न तावत् कृत्स्नविकल्पे कृत्स्नस्य सामान्यस्य देशकालाकारभिन्नासु व्यक्तिषु सकृदवृत्तिः साधयितुं शक्या सामान्यवहुत्वप्रसंगात् तस्यैकस्यानंशस्य तदयोगात्, सामान्यं युगपद्भिन्नदेशकालव्यक्तिसंबंधि सर्वगतनित्यमूर्तत्वादाकाशवदित्यनुमानमपि न सम्यक् । साधनस्येष्विधातकारित्वात् । यथैव ह्ययं हेतुः सामान्यस्य युगपद्भिन्नदेशकालव्यक्तिसंबंधित्वं साधयति तथा सांशत्वमपि व्योपवदेव, निरंशे सकृत्सर्वगतत्वविरोधादेकपरमाणुत्वं । ननु निरंशमेवाकाशमकार्यद्रव्यत्वात्परमाणुत्वं, यज्ञु सांशं तत्कार्यद्रव्यं दृष्टं यथा पटादिकमकार्यद्रव्यं चाकाङ्क्षतस्मान्निरंशमेव तद्वत्सामान्यमिति नेष्विधातकारी हेतुः सर्वगतत्वादि स्वेष्टसाध्यसाधनत्वादिति चेत्, किमनेनाकार्यद्रव्यत्वेनारंभकाभावान्निरंशत्वं साध्यते, स्वात्मभूतप्रदेशाभावाद्वा ? प्रथमविकल्पे सिद्धसाध्यता स्यादाकाशस्यारंभकादयवानभ्युपगमात् निरवयवत्वसिद्धेः । द्वितीयविकल्पे तु साध्यशून्यो दृष्टांतः परमाणुरपि स्वात्मभूतेनैकेन प्रदेशेन सांशत्ववस्थितेः । स्याद्वादिनां मते साधनशून्यश्च दृष्टांतः परमाणुरकार्यद्रव्यत्वासिद्धेः ।

स्यान्मतं तेऽकार्यद्रव्यं परमाणुरारंभकरहितत्वादाकाशव-

दिति । तदप्यतथ्यं हेतोरसिद्धत्वात् । आरंभकरहितत्वं हि यद्युत्पादककारणरहितत्वं हेतुस्तदा परमाणोद्वचणुकविनाशा-दुत्पन्निः कथं सिध्येत्? द्वचणुकविनाशो न परमाणोरुत्पादकः संभवति द्वचणुकोत्पादात्पूर्वमपि सञ्चावात् । कालादिवदिति चेत् न, तस्य द्वचणुकोत्पादे विनाशादविनाशे तु द्वचणुका-दिकालेऽपि प्रतीतिप्रसंगात् । तथा च घटप्रतीतिकालेऽपि घ-दारंभकपरमाणुरुलब्धिः कथं वार्येत्?

स्यान्मतं—पटप्रतीतौ तदारंभकास्तंतवः प्रतीयन्त एव सा-क्षात्परंपरया तु तदारंभकाः परमाणोऽस्मदाद्यप्रत्यक्षत्वात्त्र भ्रतीयन्तेऽस्मदादिभिरनध्यक्षतस्तेषामनुमेयत्वात् । तथा हि द्वचणुकावयवि द्रव्यं स्वपरिमाणादणुपरिमाणकारणारव्यं का-र्थद्रव्यत्वात्पदादिवत् यद् द्वचणुकपरिमाणकारणं तौ पराणाणु स-भनुभीयेते । परमाणोः कारणस्यात्मवाच्च तदारंभकत्वं संभाव्यते ग्रतस्तस्य कार्यद्रव्यत्वं स्याच्चतो नाकाशादेरनंशत्वे साध्ये परमाणुत्रदिति दृष्टांतः साधनशून्य इति । तदेतदपि स्त्रदर्शी-भृचिप्रकाशनपात्रं, परमाणोरप्यनुमानात्कार्थद्रव्यत्वसिद्धेः । तथा हि--परमाणवः स्वपरिमाणान्महापरिमाणावयविस्कंधवि-नाशकारणकास्तद्वावभावित्वात् कुंभविनाशपूर्वककथालवत् य-द्विनाशात्परमाणवः प्रादुर्भवेति नत् द्वचणुकादि द्रव्यमित्यनुमा-नसिद्धं परमाणोः कार्यद्रव्यत्वं ततः साधनशून्यमेवोदाहरणं । न च परमाणुनां स्कन्धविभेदनभावभावित्वमसिद्धं द्वचणुका-दिविनाशस्य भावे सञ्चावाभ्युपगमात् । सर्वदा स्वतंत्रपरमा-

गृनां स्कंधभेदमन्तरेणाभावादसिद्धो व्यतिरेकस्ततस्तज्ज्ञाव
 एव भवनशीलत्वाभावादसिद्धं साधनमिति चेत् , न, सदा
 स्वतंत्रपरमागृनामसंभवात् । तथाहि—यिवादापन्नाः परमाणवः
 स्कंधभेदपूर्वकाः परमागृत्वात् दृच्युकादिभेदपूर्वकपरमागृ-
 वदिति न ते सर्वदा स्वतंत्रास्ततस्तज्ज्ञावभावित्वं साधनं सिद्ध-
 मेव । एतेन कपालानां कुभेदकारणत्वं साधितं तज्ज्ञावभावि-
 त्वाविशेषात् । ननु च पटभेदपूर्वकाणां केषांचित्तन्तूनामुपलंभा-
 तज्ज्ञावे भावस्य प्रसिद्धावपि परेषां पटपूर्वकालभाविनां पटभे-
 दाभावेऽपि भावान्न तज्ज्ञाव एव भावः सिद्धेदिति चेत् न,
 तेषामपि कार्यासप्रवेणीभेदपूर्वकत्वेनोपालंभात्स्कंधभेदपूर्वक-
 त्वसिद्धेः । स्यान्मतं, प्रहापरिमाणप्रशिथिलावयवकार्यासपिंडस्य स्कंधभे-
 दमन्तरेण यावात् कथं परमागृनां स्कंधभेदपूर्वकत्वसिद्धि-
 रिति । तदप्यसत्, परमाणनामेव स्कंधभेदपूर्वकत्वनियमसाध-
 नात्, परेषां स्कंधानां स्कंधान्तरसंयातपूर्वकत्वस्याऽपि प्रसि-
 द्धेः, यद्दि यज्ञावभाव्येव प्रसिद्धं तत्कारणमिति स्याद्वादिनां
 मतं, ततो ये स्कंधभेदभावभाविन एव ते स्कंधभेदपूर्वका एव
 यथा परमाणवो 'भेदादगु'रिति वचनात् । ये तु संयातभाव-
 भाविन एव ते संयातपूर्वका एव यथा घनः कार्यासपिंड इति
 सर्वमनवद्यं परमाणोरपि कार्यद्रव्यत्वसिद्धेः । तदेवमाकाश-
 मनंशपकार्यद्रव्यत्वात्परमागृत्वदित्यनुमानं न साध्यसिद्धि-
 निवंधनमुदाहरणस्य साधनविकल्पत्वाद्येतोश्चासिद्धत्वात् पर्य-

यार्थदेशादाकाशस्यापि कार्यद्रव्यत्वसिद्धेः स्याद्वादिनां सर्वथा नित्यस्य कस्यचिदर्थस्याभावात् । खस्यानंशत्वामसिद्धौ चानंशं सामान्यं सर्वगतत्वादाकाशवदित्यत्र साध्यशून्यत्वादुदाहरणस्य नातः सामान्यस्य निरंशत्वसिद्धिः । सर्वगतत्वादित्यस्य हेतोरसिद्धत्वाच्च न हि सामान्यं सर्वे सर्वगतं प्रमाणतः सिद्धं । सर्वाग्रहासामान्यं सर्वे सर्वगतं सिद्धमेव सर्वत्र सत्प्रत्ययहेतुत्वादिति चेत् न, तस्यानंतव्यक्तिसमाश्रयस्यैकस्य ग्राहकप्रमाणाभावात् । तदेवाहुः सूर्यः—

“भानं च नानंतसमाश्रयस्य” इति ।

न शानंतसद्व्यक्तिग्रहणपन्तरेण तत्र सकृत् सन्नितिप्रत्ययस्योत्पत्तिरसर्वविदां संभवति यतः सर्वत्र सत्प्रत्ययहेतुत्वं सिद्धयेत् । तदसिद्धौ च न तदनुपानं प्रमाणं सामान्यस्यानंतसमाश्रयस्यास्तीति न कुन्त्तविकल्पतो वृत्तिः सामान्यस्य सामान्यबहुत्वप्रसंगादिति स्थितं । एतेन व्यक्तिसर्वगतं सामान्यं कुत्सतः स्वाश्रयेषु प्रवर्त्तत इति बद्धपि निरस्तः तस्याप्यनंतव्यक्तिसमाश्रयस्य मानाभावाविशेषात् । एतेन देशतः सामान्यस्य स्वाश्रयेषु वृत्तिरित्यपि विकल्पो दूषितः, देशतोऽनंतेषु स्वाश्रयेषु युगपत्सामान्यस्य वृत्तिरित्यत्र प्रमाणाभावात्, ततोऽस्मिन्नपि पक्षे “भानं च नानंतसमाश्रयस्य” इति संबंधनीयं । सप्रदेशत्वप्रसंगाच्च सामान्यस्य न चैवप्रभ्युपगन्तुयुक्तं स्वसिद्धान्तविरोधात् तस्य निरंशत्ववचनात् । ततो नैकं सामान्यममेयरूपं कुतश्चित्प्रमाणात्मिसिद्धं यतस्तदमेयमेव न स्यात् ।

संप्रति सामान्यमनंतसमाश्रयमप्रमाणकमवस्थाप्य पक्षां-
तरमनूद्य दूषयंति—

नानासदेकात्मसमाश्रयं चे-

दन्यत्वमाद्विष्टमनात्मनोः क ।

चिकल्पशून्यत्वमवस्तुनश्चे-

तस्मिन्नमेये क खलु प्रमाणम् ॥ ५६ ॥

टीका— नाना च तानि संति च नानासंति विविधद-
व्यगुणकर्मणि तेषां नानासत्तामेकात्मा सदात्मा वा द्रव्या-
त्मा वा गुणत्वा वा कर्मत्वा वा स एवाश्रयो यस्य सामा-
न्यस्य तत्रानासदेकात्मसमाश्रयं । एको हि सदात्मा समा-
श्रयः सत्तासामान्यस्य स चैकसद्व्यक्तिप्रतिभासकाले
प्रमाणतः प्रतीयत एव तदन्यद्विरीयाद्विसद्व्यक्तिप्रतिपत्ति-
कालेऽपि स एवाभिव्यक्ततामियर्त्तिं तत्पात्राश्रयस्य सामा-
न्यस्य प्रमाणं ग्रहणनिमित्तमन्त्येव तस्यानंतस्वभावसमाश्रयस्यैव
भानं नास्तीति व्यवस्थितेः । तथैको द्रव्यात्मा समाश्रयो द्रव्य-
त्वसामान्यस्य, गुणात्मा गुणत्वसामान्यस्य, कर्मत्वा कर्मत्वसा-
मान्यस्येति, तस्यैकां द्रव्यव्यक्तिं द्विरीयां च प्रतीयन् द्रव्यस्व-
भावमेकमेव प्रत्येति तत्समाश्रयं च द्रव्यत्वसामान्यमिति स-
दात्मा समाश्रयः, न तस्यामानता, एवं गुणव्यक्तीः कर्मव्यक्तीर्वा-
द्विराः पश्यन् गुणस्वभावं कर्मस्वभावं च पश्यतीति गुणैका-
त्मसमाश्रयं कर्मेकात्मसमाश्रयं वा गुणत्वसामान्यं कर्मत्वसा-

मान्यं वा प्रत्येतुं प्रपाणतः शक्नोतीति न तस्याप्रमाणात् शक्या समापादोयेतुपनंतसमाश्रयस्यैव सामान्यस्य मानताऽधटनादिति यदि मन्यन्ते सामान्यवादिनस्तदैवं प्रष्टव्याः किमेतत्सामान्यं स्वव्यक्तिभ्योऽन्यदनन्यद्वा ? न तावदन्यत्वस्य सदेकस्त्रभावाश्रयसामान्यस्य स्वव्यक्तिभ्यो भेदे तासामसदात्मकत्वप्रसंगात्प्रागभावादिवत्, व्यक्तेरसदात्मकत्वे च सत्सामान्यस्याप्यसदात्मकत्वापत्तिरसदृश्यक्तिलादभावमात्रवत् । ततश्चानात्मनोर्ध्यक्तिसामान्ययोरन्यत्वं क स्याच्चैव स्यादित्यर्थः । तदद्विष्टमिह प्रसिद्धं द्वयोरभावे पुनरद्विष्टन्यत्वं केति संबंधनीयं एवं द्रव्यव्यक्तेद्रव्यैकात्मसमाश्रयस्य द्रव्यत्वसामान्यस्य भेदेऽप्यद्रव्यत्वप्रसंगो गुणादिवत् । तदद्रव्यत्वे च द्रव्यत्वसामान्यस्यानात्मत्वापत्तिरित्यनात्मनोर्द्रव्यव्यक्तिद्रव्यत्वसामान्ययोरन्यत्वं क स्यात् ? तस्याद्विष्टत्वेन च द्वयोरभावे काद्विष्टपन्यत्वमिति घटनीयं । तथा गुणत्वसामान्यस्य कर्मत्वसामान्यस्य चैकगुणात्मसमाश्रयस्यैककर्मात्मप्रसंगः कर्मव्यक्तेश्चाकर्मत्वप्रसंगस्तदनात्मकत्वे च गुणत्वसामान्यस्य कर्मत्वसामान्यस्य चाऽनात्मकत्वापत्तिरित्यनात्मनोर्गुणव्यक्तिगुणत्वसामान्ययोः कर्मव्यक्तिकर्मत्वसामान्ययोश्चान्यत्वं क स्यात् ? द्वयोरभावे चाद्विष्टपन्यत्वं केनि प्रतिपत्तव्यं ततो नान्यत्सामान्यं स्वव्यक्तिभ्यो व्यवतिष्ठते । नाऽप्यनन्यतु, सामान्यस्यव्यक्तौ प्रवेशे व्यक्तिरेव स्याम च सामान्याभावे सा संभवतीत्यनात्मा स्यात्तदनात्मत्वे

सामान्यस्याप्यनात्मत्वमित्यनात्मनोर्यकितसामान्ययोरनन्यत्वं
केति योजनीयं । न च तद्द्विष्टमनन्यत्वमस्तीति कानन्यत्वं ।
एतेनोभयपि निरस्तमुभयदोषानुषंगात् । ननु च वस्तुभूतस्य
सामान्यस्यानभ्युपगमादवस्तुन एव सामान्यस्यान्यापोहलक्षण-
स्येष्टत्वात्तस्य चान्यत्वानन्यत्वादिविकल्पशून्यत्वं खरविषा-
णवदिति चेत्, तर्हि तस्मिन्नवस्तुनि सामान्ये क खलु प्रमाणं
संप्रवर्त्तेत नैव किञ्चित्प्रमाणं स्यात् तस्यामेयत्वादन्यापोहस्य
सर्वप्रमाणातिक्रान्तत्वात् । तथाहि—न तावत्पत्यक्षमवस्तुनि प्रव-
र्त्तेत तस्य वस्तुविषयत्वात् । नाऽप्नुपानं लिंगाभावात् । न हि
तत्र स्वभावलिंगं निःस्वभावस्यावस्तुनः स्वभावविरोधात्, स्व-
भावस्य कस्यचित्सङ्गावे वस्तुत्वप्रसंगात् । नाऽपि कार्यलिंगं सक-
लकार्यशून्यत्वादवस्तुनः, कस्यचित्कार्यस्य भावे तस्यावस्तुत्व-
विरोधात् । तत्रानुपलंभो लिंगमिति चेत्, सोऽपि कचिदग्नौ
तदन्यस्यानग्नेरभावो शान्यापोहः सामान्यं, तस्य चानग्नेः क-
स्यचिदेत्रोपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य जलादेरनुपलंभः स्थात्सर्वस्य
वा ? प्रथमविकल्पे न सर्वस्पादनग्नेरपोहः सिद्धयेत् । द्वितीय-
विकल्पे देशकालस्वभावविप्रकृष्टस्य द्रीपान्तररावणपरमाष्ट्रा-
देरनग्नेरनुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलंभः कथमभावं कचिदग्नौ
साधयेदभावव्यवहारं वा स्वाभ्युपगमविरोधादिति, नावस्तु
सामान्यं केनचित्प्रमाणेन मेयं, तस्मिंश्चामेये क खलु प्रमाणं
प्रवर्त्तेत पराभ्युपगमतवस्तुभूतसामान्यवदिति न किञ्चित् सामान्यं
परेषां व्यवतिष्ठते प्रमाणाभावात् ।

न तु चानुवृत्तिप्रत्ययलिंगं सामान्यं कथमप्रमाणमित्यपरे ।
अतद्व्यावृत्तिप्रत्ययसाध्यमन्यापोहसामान्यमित्यन्ये । स्वस्वसं-
षेदनमात्रं साध्यं सन्मात्रं शरीरं ब्रह्मेति केचित् संप्रतिपद्यन्ते,
तान् प्रति श्राहुराचार्याः—

व्यावृत्तिहीनाद्वयतो न सिद्धये-

द्विपर्ययेऽप्यद्वितयेऽपि साध्यम् ।

अतद्व्युदासाभिनिवेशवादः

पराभ्युपेतार्थविरोधवादः ॥ ५७ ॥

टीका—येषां तावत्—द्विविधं सामान्यं परमपरं चेति तेषां
च न परं सामान्यं सत्त्वाख्यं साध्यं सदित्यन्वयादसद्व्यावृत्ति-
हीनादेव सिद्धयेत् सदसतोः संकरेण सिद्धिप्रसंगात् । सदन्वय
एवासद्व्यावृत्तिरित्ययुक्तमनुवृत्तिव्यावृत्त्योर्भावाभावभावयो-
र्भेदाभ्युपगमात् । सामर्थ्यात्सदन्वयेऽसद्व्यावृत्तिः सिद्धये-
दिति चेत् , तर्हि न व्यावृत्तिहीनादन्वयतः साध्यं सिद्धयेत् ।
एतेनापरं सामान्यं द्रव्यत्वादि द्रव्यमित्याद्यन्वयादद्रव्यादिव्या-
वृत्तिहीनान्न सिद्धयेदिति निवेदितं, सामर्थ्यसिद्धादद्रव्यादिव्या-
वृत्तिसहितादेव द्रव्याद्यन्वयात् द्रव्यत्वादिसामान्यस्य सिद्धेः
तत एव तस्य सामान्यविशेषाख्यत्वव्यवस्थापनात् । येऽपि के-
षांचिद्विपर्यये तद्व्यावृत्तेरेवान्वयहीनायाः सामान्यं प्रतीयन्त
इति तस्मिन्निवर्ययेऽपि साध्यं न सिद्धयेत् सर्वथान्वयरहिता-
दतद्रव्यावृत्तिप्रत्ययादन्यापोहसिद्धावपि तद्विधेरसिद्धेस्तत्र भव-

चिदिरोधात् तदर्थक्रियालक्षणस्य साध्यस्य सिद्धधभावात् । ह-
श्यविकल्पयोरेकत्वाध्यवसायात् प्रवृत्तौ साध्यं सिद्ध्यतीति
चेत्, न, तदेकत्वाध्यवसायस्यासंभवात्, न हि दर्शनं तदेक-
त्वमध्यवस्थति तस्य विकल्पाविषयत्वात्, नापि तत्पृष्ठभाविविक-
ल्पस्तस्य हश्याविषयत्वात् चोभयविषयं ज्ञानान्तरमेकं संभ-
वति यतस्तदेकत्वाध्यवसायात् व्यावृत्तिमात्रादन्वयहीनाद-
न्यापोहसामान्यं सिद्धयेत् । स्वलक्षणेष्विति न साध्यसिद्धिः ।
तथान्वयव्यावृत्तिहीनादद्वितयादेव सन्मात्रप्रतिभासात्सत्त्वाद्वैत-
सिद्धिरित्यपि न सम्यक्, सर्वथाऽप्यद्वितये साध्यसाधनयोर्भे-
दासिद्धौ कुतः साधनात्साध्यं सिद्धयेदसिद्धौ चाद्वितयवि-
रोधात् । यदि पुनरद्वितयेऽपि संविन्पात्रेऽसाधनव्यावृत्त्या सा-
धनप्रसाध्यव्यावृत्त्या च साध्यमित्यतद्व्युदासाभिनिवेशवादः स-
पाश्रीयते, तदाऽपि पराभ्युपेतार्थविरोधवादः सौगतस्य स्यात् ।
पराभ्युपगतो हि संविदद्वैतलक्षणोऽर्थस्ताथागतैः स चात-
द्व्युदासाभिनिवेशवादेनातद्व्यावृत्तिमात्राग्रहवचनरूपेण वि-
कृत्यते कस्यचिदसाधनस्यासाध्यस्य चार्थाभावे तद्व्यावृत्त्या
साध्यसाधनव्यवहारानुपपत्तेभवति च द्वैतसिद्धेरप्रतिक्षेपार्हत्वा-
दिति सौगतानां पूर्वाभ्युपेतार्थविरोधवादः प्रसज्येत् ।

यदि तु साधनप्रसाध्यकर्मेव न वास्तवं सौगतैरभ्युपेतते
नाऽपि साध्यं तस्य संवृत्त्या कलिपताकारत्वात्ततो न पराभ्यु-
पेतार्थविरोधवादः स्यादिति निगद्यते । तदा दृषणप्राप्ते-
द्यन्ति—

अनात्मनानात्मगतेरयुक्तिः,

इति । अनात्मना निःस्वभावेन सांहृतेनासाधनव्याहृति-
पात्ररूपेण साधनेन साध्यस्यापि तथाविधस्यानात्मनो या-
गतिः प्रतिपत्तिस्तस्याः सर्वथाप्ययुक्तिरयोग एव ।

अत्र परिहारपाशं क्षय निराकुर्वन्ति—

वस्तुन्ययुक्तेर्यदि पक्षसिद्धिः ।

अवस्तवयुक्तेः प्रतिपक्षसिद्धिः,

इति । वस्तुन् संविद्वैतरूपे साधनेनानात्मना सा-
ध्यस्यानात्मनो गतेरयुक्तेः पक्षसिद्धेरेवं संविद्वैतवादिनः
साध्यसाधनभावशून्यस्य संवेदनपात्रस्य पक्षत्वात्सिद्धं नस्त-
म्भिति यदि पन्यते परस्तदाप्यवस्तुनि विकल्पिताकारे सा-
ध्यसाधनयोरयुक्तेः प्रतिपक्षस्य द्वैतस्य सिद्धिः स्यात् । न
शब्दवस्तु साधनं साधयति साध्यमद्वैतस्त्वमतिप्रसंगात् ।

साधनाद्विना स्वत एव संविद्वैतसाध्यसिद्धिरिति परम-
तमपाकुर्वन्ति—

न च स्वयं साधनरिक्तसिद्धिः ॥५८॥

साधनेन रिक्ता शून्या सिद्धिः स्वयं संविद्वैतस्य न
युज्यते, पुरुषाद्वैतस्यापि स्वयं सिद्धिप्रसंगात् कस्यचित्तत्र
विप्रतिपत्यभावप्रसंगाच्च ।

तदेवम्—

निशायितस्तैः परशुः परघ्नः
स्वमूर्धि निर्भेदभयानभिज्ञैः ।
वैताण्डिकैर्यैः कुसृतिः प्रणीता
मुने ! भवच्छासनद्वक्प्रमृढैः ॥ ५९ ॥

दीका—परपक्षदूषणप्रथानैवैताण्डिकैः संवेदनाद्वैतवादिभिर्यैः
कुसृतिः कुत्सिता गतिः प्रतीतिः प्रणीता । मुने ! भगवन् !
भवतः शासनस्य स्याद्वादस्य हशि प्रमृढैस्तैः स्वमूर्धिनि नि-
र्भेदभयस्यानभिज्ञैर्निर्भेदभयमजानद्विः परघ्नः परशुनिशायित
इति वाक्यार्थघटना । यथैव हि कैश्चित्परशुः परवाताय नि-
शायितः स्वमूर्धिनि भेदाय च प्रवर्त्तत इति तद्वयानभिज्ञास्ते, त-
थैव वैताण्डिकैः परपक्षनिराकरणायमानैः प्रणीयमानो न्यायः
स्वपक्षयपि निराकरोतीति तेऽपि स्वपक्षघातभयानभिज्ञा एव ।
ते हि स्याद्वादन्यायनायकस्य गुरोः शासनद्वक्प्रमृढाः किं जा-
नन्ते दर्शनमोहोदयाक्रान्तान्तःकरणत्वादिति विस्तरतस्तत्वा-
र्थालङ्कारे प्रतिपत्तव्यं ।

ननु च यदुक्तं “न च स्वयं साधनरिक्तसिद्धिः” इति ।
तत्र, संविद्द्वैतस्यापि सिद्धिर्मा भूत्सर्वाभावस्य शून्यतालक्षणस्य
विचारबलादागतस्य परिहर्चुमशक्यत्वादिति केचिदाचक्षते
तान्यत्याहुः—

भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मो
भावान्तरं भाववर्द्धतस्ते ।

प्रमीयते च व्यपदिश्यते च
वस्तुव्यवस्थांगममेयमन्यत् ॥६०॥

टीका--न हि वहिस्तथ वस्तुनोऽसंभवे तदभावः सर्व-
शून्यतालक्षणः संभवति तस्य वस्तुधर्मन्वात्, स्वधर्मिणोऽसंभवे
कस्यचिद्दर्मस्याप्रतीतेः । स व्यभावः स्वरूपेण भवति न वा ?
भवति चेदभावेऽपि वस्तुधर्मसिद्धेः कस्यचिद्दर्मस्याभावे धर्मा-
न्तरमेव स च कथं वस्तुधर्मो न सिद्धयेत् । न भवति चेदभाव
एव न स्यादभावस्याभावे भावस्य विधानात् । अथ धर्मिणो-
ऽभावस्तदा भावान्तरं स्याद्भाववत् कुंपस्याभावो हि भूभागो
भावान्तरमेवाहृतो भगवतस्ते, न पुनस्तुच्छः सकलशक्तिवि-
रहलक्षणो यौगस्येवेति प्रत्येतत्यं । कुत एतत् ? यस्मात्प्रीयते
चाभावो व्यपदिश्यते च वस्तुव्यवस्थांगं च निगद्यते । अभावो
हि धर्मस्य धर्मिणो वा यदि कुतश्चित्प्रमाणान् प्रमीयते तदा
कथं व्यवतिष्ठते ? प्रमीयते चेत्, नदा स च वस्तुधर्मो भावान्तरं
वा धर्मधर्मिस्वभावभाववत् । तथा यद्यभावो न व्यपदिश्यते तदा
कथं प्रतिपद्यते ? व्यपदिश्यते चेत्, वस्तुधर्मो वस्त्रंतरं वा
स्यादन्यथा व्यपदेशः नुपत्तेः, तथा वस्तुनो घटादेव्यवस्थायाम-
गमभावोऽनंगं वा । यद्यनंगं, किं तत्परिकल्यनया । घटे पटादेर-
भाव इति पदादिपरिहारेण (तु) घटव्यवस्थाकारणमभावः परि-
कल्पयते अन्यथा वस्तुसंकरप्रसंगादिति वस्तुव्यवस्थांगमभावोऽ-
भ्युपगन्तव्यः । ततो वस्तु धर्म एवाभावो वस्तुव्यवस्थांगत्वाद्भाव-

वत् । ननु च यथा प्रमाणं प्रमेयव्यवस्थांगमपि न प्रमेयर्थम्-
स्तथा वस्तुव्यवस्थांगमप्यभावो न वस्तुर्थमः स्यात्, यो यद्ब्य-
वस्थांगं स तद्धर्म इति नियमाभावात्, व्यभिचारदर्शनात्, न
ह्यभावव्यवस्थांगं घटादिर्भाव इति तस्याभावर्थमत्वं प्रतीये-
तेति कश्चित् । सोऽप्यनालोचितवचनः, प्रमाणस्यापि प्रमेय-
र्थमत्वाविरोधात् । प्रमाणं हि ज्ञानयविसंबादकमिष्यते तत्त्वं
प्रमेयस्यात्मनो धर्मः करणसाधनापेक्षायां प्रतीयते, एवं प्र-
मितिः प्रमाणमिति भावसाधनापेक्षायां तु प्रमाणस्यात्मार्थस्य
र्थमत्वमपीति सिद्धं प्रमेयर्थमत्वमात्मनः प्रमितिर्थस्य प्रमिति-
रिति संप्रत्ययात् । तथा घटादिर्भावस्याभावर्थमत्वमपि न
विरुद्धयते, मृदो घट इति यथा मृद्धर्मो घट इति तथा सुवर्णार्थ-
भावस्य मृदो धर्म इत्यपि प्रयुक्त्यत एव सुवर्णार्थभावस्यासुव-
र्णमृदादिस्वरूपत्वात्ततो न व्यभिचारः । किं च हेतोर्विपक्षे का-
त्स्न्येनाभावो हेतुर्धर्म इति स्वयमिच्छन्कयं हेतुलक्षणवस्तुव्य-
वस्थांगस्याभावस्य हेतुरूपवस्तुर्थमत्वं नेच्छेत् । यन्तु न वस्तु
व्यवस्थांगमभावतत्त्वं तद्मेयमेव भावैकान्ततत्त्ववत् ।

तदेवं परपरिकलितं सामान्यं वस्तुरूपपरूपं वा यथा
न वाक्यार्थस्तथा व्यक्तिपात्रं परस्परनिरपेक्षामुभयं वा न वा-
क्यार्थः समवतिष्ठते तस्यामेयत्वात्सकलप्रमाणगोचरातिका-
तत्वात् ।

किं तर्हि वाक्यमभिदधातीति सूरिभिरवस्थाप्यते ।—
विशेषसामान्यविषक्तभेद-

**विधिव्यवच्छेदविधायि वाक्यम् ।
अभेदबुद्धेरविशिष्टता स्याद्
व्यवृत्तिबुद्धेश्च विशिष्टता ते ॥६१॥**

टीका—विसद्वशपरिणामो विशेषः सद्वशपरिणामः सामान्यं । ताभ्यां विषक्ताश्च ते च ते भेदाश्च द्रव्यपर्यायव्यक्तिरूपास्तेषां विधिव्यवच्छेदौ तद्विधायि वाक्यमिति घटना । तत्र घटपानयेति वाक्यं नाघटानयनव्यवच्छेदमात्रविधायीति घटानयनविधेगपि तेनाभिधानात्, अन्यथा तद्विधानाय वाक्यान्तरप्रयोगप्रसंगात्, तस्याप्यतद्व्यवच्छेदविधायित्वे तद्विधानायापरवाक्यप्रयोग इत्यनवस्थानुषंगात् न कदाचिद्घटानयनविधिप्रतिपत्तिः स्यादिति प्रधानभावेन व्यवच्छेदविधाययपि वाक्यं गुणभावेन विधिविधायि प्रतिपत्तव्यं । विधिमात्रविधायेव वाक्यमित्यप्ययुक्तं तदन्यव्यवच्छेदेन विना विधिप्रतिपत्तेरयोगात्, तदितरव्यवच्छेदाय वाक्यान्तरप्रयोगापत्तेस्तस्यापि तद्विधिमात्रविधायित्वेऽतद्व्यवच्छेदाय वाक्यान्तरप्रयोगादनवस्थितिप्रसंगात्, ततः प्रधानभावेन विधिप्रतिपादकं वाक्यं गुणभावेन व्यवच्छेदविधायि प्रतिपादनीयं ।

जातेरेव विधिव्यवच्छेदोभयं प्रधानगुणभावेन वाक्यमभिधत्ते, घटानयनसामान्यस्य विधानादघटानयनादिसामान्यस्य तत्प्रतिपक्षस्य व्यवच्छेदादिति मतान्तरप्रयोगपि न युक्तिमत् । भेदविधिव्यवच्छेदविधायित्वाद्वाक्यस्य, भेदो हि व्यक्तिर्द-

व्यगुणकर्पलक्षणा, तत्र द्रव्यगुणयोर्गुणभावेन क्रियायाः प्राधा-
न्येन विधिव्यवच्छेदविधायित्वप्रतीतेर्वाक्यस्य न जातेरेव वि-
धिव्यवच्छेदविधायि वाक्यं व्यवतिष्ठते । एतेन करोत्यर्थस्य क्रि-
यासामान्यस्यार्थभावनारूपस्य विधायकं वाक्यं शब्दभावनारू-
पस्य वा शब्दव्यापारलक्षणस्येति प्रतिक्षिप्तं, यज्यादिक्रिया-
विशेषस्यापि वाक्येनाभिधानान्नियोगविशेषवदन्यथा तदवि-
शेषे प्रवृत्त्यभावप्रसंगात्, लक्षितलक्षणाया तत्र प्रवृत्तौ शब्दप्रवृ-
त्तिविरोधात्, शब्दप्रतिपन्नसामान्यलिङ्गादेव विशेषे प्रवर्त्तनात्,
शब्दमूलत्वात्प्रवृत्तेः शब्दत्वे परंपरया श्रोत्रेन्द्रियपूर्वकत्वात्
तत्प्रवृत्तेः अन्तजडाननिमित्तव्यप्रसंगात् । एतेनैव सन्मात्रसामान्य-
स्य विधायकं वाक्यमित्यपि व्युदस्तं सद्विशेषस्यापि वाक्येना-
भिधीयमानस्य प्रतीतेर्थात्वर्थविशेषवत् । भेदस्यैव विधिव्यवच्छेद-
दविधायि वाक्यमिति मतप्रयोगः, सामान्यविषक्तभेद-
विधिव्यवच्छेदविधायित्वाद्वाक्यस्य सदृशपरिणामलक्षणसा-
मान्यविशिष्टस्यैव हि भेदस्य द्रव्यगुणक्रियारूपस्य विधिव्य-
वच्छेदविधायितायां वाक्यस्य संकेतव्यवहारकालान्ययः स्या-
आन्यथाऽतिप्रसंगात् । सामान्यविषक्तभेदस्यैव विधिव्यवच्छेद-
दविधायि वाक्यमिति दर्शनमपि स्वरूचिविरचितमेव । विशे-
षसामान्यविषक्तभेदविधिव्यवच्छेदविधायित्वाद्वाक्यस्य सा-
दृश्यसामान्यविशिष्टस्यैव विसदृशपरिणामलक्षणविशेषविशि-
ष्टस्यापि भेदस्य विधिव्यवच्छेदविधानप्रतीतेरबाध्यमानायाः
प्रेक्षाच्चिराश्रयग्रीयत्वात् । तत्र भेदस्य द्रव्यादिव्यक्तिरूपस्या-

विशिष्टता समानता सामान्यविषक्तता स्यादभेदबुद्धेः समानबुद्धेस्तेन समानोऽयमनेन समानः स इत्यभेदबुद्धिः सद्विपरिणामात्मकसामान्यमंतरेणानुपपद्यमाना तदेव साधयतीति किं नश्चिन्तया । नन्वेष्वसामान्ययोगात्समानबुद्धिरन्वयिनी न पुनः समानपरिणामयोगादिति चेत् , न, सामान्यवानिति प्रत्ययप्रसंगात्, सामान्यतद्रूपेभेदात्तयोरभेदोपचारात्समानप्रत्यय इति चेत् , न, तथाऽपि सामान्यमिति प्रत्ययप्रसंगात् । यथैव हि यष्टियोगात् पुरुषो यष्टिरिति प्रतीयते तदभेदोपचारात्तथा सामान्ययोगात् द्रव्यादिः सामान्यमिति स्यान्नतु समान इति भावप्रत्ययलोपलक्षणाभावात् ।

स्यान्मतं , सामान्यस्य वाचकः समानताशब्दोऽस्तीति तेन समानेन योगात्समानो द्रव्यादिरिति प्रत्ययः स्यादिति तदप्यसदेव । सामान्यशब्दवाच्यस्य दम्तुनः समानशब्दवाच्यत्वापत्तीतेः समानानां भावः सामान्यं ज निर्ने पुनः समान एव सामान्यमिति स्वार्थिकष्टधग्गप्रत्ययः क्रियते येन समानशब्दवाच्यं सामान्यं स्यात् । न च द्रव्यादिभ्यो मिञ्च सामान्यमन्वयप्रत्ययात्सिद्धयति नाम, परापरसामान्येषु सामान्यान्तरसिद्धिप्रसंगात्, तथा चानवस्था स्यात् सुदूरपि गत्वाऽन्वयप्रत्ययात्सामान्यान्तरस्यामिद्वौ प्रथमतोऽपि तदन्वयप्रत्ययात् सामान्यं मा भवतु (सिद्धेत) सर्वथा विशेषाभावात् । द्रव्यादिष्वन्वयबुद्धिरबाधिततया अनुपचरिता सामान्येष्वन्वयबुद्धिरुपचरिताऽनवस्थाप्रसंगेन बाधितत्वादिति विशेषाभ्युपगमोऽपि न युक्तः

सर्वव्यक्तिषु सामान्यस्यैकस्यानंशस्य देशकालादिभिन्नासु युग-
पदवृत्तिविरोधेन वा वित्तस्यान्वयबुद्ध्या विषयीक्रियमाणस्यासं-
भवादस्याप्यन्वयप्रत्ययस्यानुपचरितत्वासिद्धेः समर्थनात् । नन्वे-
वं सद्वशपरिणामरूपस्यापि सामान्यस्यान्वयबुद्धेः कुतः प्रसिद्धिः
समानपरिणामेष्वप्यन्वयबुद्धेः समानपरिणामान्तरप्रसंगादनव-
स्थायाः वाधिकायाः संभवात् , समानपरिणामस्यैकक्त्र भेदे
वाधासंभवात्तस्यानेकस्थत्वादिति चेत् , न, समानपरिणाम-
मानामपि समानपरिणामान्तरप्रत्यातेस्तेषामनन्तत्वादनवस्थान-
वकाशात् । यथैव हि धटेषु घटाकारसमानपरिणामः प्रत्येक-
प्रपरघटपरिणामादेकः प्रतीयते “प्रमाना एते घटाः” इति तथा
घटसमानपरिणामेष्वपि मृदाकारसमानपरिणामान्तरं प्रतिभा-
सत एव ‘मृदाकारेण समाना एते घटसमानपरिणामाः’ इति
तेष्वपि मृदाकारसमानपरिणामान्तरेषु पार्थिवाकारसमानपरि-
णामान्तराणि पार्थिवाकारेण समाना एते मृदाकारसमानप-
रिणामा इति प्रतिभासनात् । पार्थिवाकारसमानपरिणामेष्वपि
मूर्त्तत्वाकारसमानपरिणामान्तराणि, तेष्वपि द्रव्यत्वाकारस-
मानपरिणामान्तराणि, तेष्वपि रुक्त्वपरिणामान्तराणि, तेष्वपि
वस्तुत्वपरिणामान्तराणि, तेष्वपि प्रमेयत्वपरिणामान्तराणि,
तेष्वपि वाचत्वपरिणामान्तराणि, तेष्वपि ह्रेयत्वपरिणामान्त-
राणि तेष्वपि पुनः स्त्रादिपरिणामान्तराणि प्रतिचकासंति
भेदनय प्राधान्यान्वतेषां वलयवदादिरंतो वा विद्यते यतोऽनवस्था
वाधिका स्यात् । नाप्येकक्त्र भेदे समानपरिणामो विश्वध-

ते तस्य संयोगददनेकस्थापाभावात् । विशेषवदनेकापेक्ष-
यैव तदभिव्यक्तेः कृशत्वाद्यपेक्षया स्थूलत्वादिवत् । न च स-
मानपरिणामोऽर्थानामपारमार्थिक एवापेक्षिकत्वादिति निश्चेतुं
शब्दयं संविद्वैश्येन व्यभिचारात् । न हि वृद्धाक्षसंवेदनापे-
क्षया कुमारसंवेदनानां विशदतरत्वमापेक्षिकं न भवति तदविशे-
षप्रसंगात् । नाऽपि तदपारिमार्थिक येन न व्यभिचारः स्यात् ।
यदा तु परिणामपरिणामिनोरभेदनैयप्राधान्यात्कथंचित्तादात्म्यं
प्रतिपाद्यते तदा द्रव्येषु द्रव्यत्वसमानपरिणामो द्रव्यस्वरूप-
यैव, तस्य च द्रव्यत्वपरिणामस्य सत्त्वादिसमानपरिणामा-
न्तरं द्रव्यस्यैव प्रतीयते ततोऽर्थान्तरभूतस्य द्रव्यत्वपरिणाम-
स्यासंभवादिति कुतोऽनवस्थाऽवकाशं लभते ? यदि वा येष्वेव
द्रव्येषु द्रव्यत्वसमानपरिणामस्तेष्वेव सत्त्वादिपरिणामान्तराणि
व्यवतिष्ठते, केवलं तैरिवैकार्थसमवायवलात् द्रव्यत्वसमानपरि-
णामो व्यपदिष्यते संख्यादिगुणान्तरैरिव रूपादिगुणा इति सर्वे
निरवद्यं भेदाभेदोभयनयप्रधानभावार्पितसमानपरिणामल-
क्षणसामान्यविषक्तभेदविभिव्यवच्छेदविधायित्वनिश्चयाद्वाक्य-
इयान्यथा निर्विषयत्वप्रसंगात् । यथा चाभेदबुद्धेद्रव्यत्वादि-
व्यक्तेरविशिष्टता स्यात् तथा व्याघ्रत्विकुद्धेश्विशिष्टता ते भगवतः
स्थाद्वाददिवाकरस्येति संप्रतीयते, विसद्वशपरिणामलक्षणो हि
विशेषस्तद्विषक्ताविशिष्टता सा चेदप्यस्पाद्व्याघ्रत्वमिति व्या-

१ प्रथमपुस्तके ‘अनेकर्थात्वाभावादिति पाठः । २ द्वितीयपुस्तके “भेद-
नयादानात् ।” इति पाठः

व्यावृत्तिबुद्धेरध्यवसीयते । ननु चायं विशेषोऽस्माद्विशेषान्तराद्
व्यावृत्ति इति व्यावृत्तिबुद्धेरपि विशेषेषु विशेषांतरसिद्धिप्रस-
गादनवस्था स्थात्तत्र विशेषान्तराभावेऽपि व्यावृत्तिबुद्धेः संभ-
वे सर्वत्र ततो विशेषसिद्धिर्न भवेदिति केचित् । तेऽपि न
समीचीनबुद्धयः, समानपरिणामवज्ज्ञेदाभेदनयप्राधान्यादनव-
स्थानुपस्थितेः, भेदनयादानंत्यसिद्धेविशेषाणामभेदनयाद्व-
द्रव्येष्वेव विशेषान्तराणामपि संभवात्, भेदाभेदनयात्तु तदे-
कार्थसमवायिभिर्विशेषान्तरैर्विशेषस्य विवक्षितव्यपदेशसिद्धेः
व्यावृत्तिबुद्धेविशिष्टतासाधनं साधीय एवान्वयबुद्धेः सपान-
तासाधनवत्ततो विशेषसामान्यविषक्तभेदविधिव्यवच्छेदवि-
धायि वाक्यमिति सूरभिरभिधीयते प्रातीतिकत्वात् ।

यथा च विशेषसामान्यविषक्तभेदविधिव्यवच्छेदात्मको
विषयः प्रतीतिवलाद्वाक्यस्य व्यवस्थापितम्तथा वाक्यमणि
यरमागमलक्षणं तदात्मकमेवेति प्रतिपदयन्ति—

सर्वान्तवत्तद्वुणमुख्यकल्पं

सर्वान्तशून्यं च मिथोनपेक्षम् ।

सर्वापदामन्तकरं निरन्तं

सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥ ६२ ॥

टीका—सर्वे च तेऽन्ताश्वेति स्वपदार्थवृत्तेर्मत्वर्थीयः प्रत्ययो
युज्यतेऽन्यपदार्थवृत्तेः परत्वेऽपि सर्वशद्वादौ तदपवादाज्ञात्य-
र्थादिवत्, सर्वेऽन्ताः यस्य तत्सर्वान्तमिति परत्वाद्वहन्त्रीहौ सति

तेनैव मत्त्वर्थस्य प्रतिपादनात् मत्त्वर्थीयो न स्याद्विरपुरुषको
आम इति यथा, सर्वशब्दादेस्तु पदादन्यत्र बहुब्रीहिरित्यप-
बादवचनात्सर्वशब्दादेः पदस्य कर्मधारय एव भवति यथा सर्व-
बीजी कर्षकः सर्वकेशी नट इति तेन सर्वान्ताः संत्यस्मिन्निति
सर्वान्तवत्तीर्थमिदं परमागमवाक्यमिति संबंधनीयं । तरति
संसारमहार्णवं येन निमित्तेन तत्तीर्थमिति व्युत्पत्तेः । सर्वा-
न्ताः पुनरशेषधर्मा विशेषसामन्यात्मकद्रव्यपर्यायव्यक्तिवि-
धिवचन्छेदाः प्रतिपत्तव्याः समासतस्तैरेवानंतानामपि धर्मा-
णां संग्रहात् । तत्र स्यादस्त्येव वाक्यं स्वरूपादिचतुष्टया-
दिति विधिधर्मवाक्यं, स्यान्नास्त्येव पररूपादिचतुष्टयादिति
व्यवचल्लेदधर्मवाक्यं स्वरूपं तु वहिर्वाक्यस्य परस्परापेक्षया
पदसमूहो निराकांक्षः सहभुवामिव नानाप्रवक्तुकाणां क्रमभुवा-
मपि समूहस्य व्यवहारसिद्धेः प्रत्यासत्तिविशेषसङ्घावात् । अ-
न्तर्वाक्यस्य तु पूर्वपूर्वपदज्ञानाहितसंस्कारस्थात्मनोऽन्त्यपदज्ञा-
नात्समुदायार्थप्रतिभासस्तद्व्यतिरिक्तस्य स्फोटस्य प्रागेव प्र-
तिक्षिसत्वाच्चदेतत् द्विविधपि वाक्यं स्वरूपत एवास्ति न पुनः
पररूपतः सर्वात्मकत्वप्रसंगात्, पररूपत एव च नास्ति न पुनः
स्वरूपतः सर्वाभावप्रसंगात् । ततो वस्तुत्वसिद्धिः स्पष्टरूपो-
पादानापोहनात्मकत्वाद्वस्तुनः तथा स्वद्रव्यं शब्दस्य तद्योग्य-
शुद्धलद्रव्यं शब्दात्मनो वाक्यस्य उद्भूलपर्यायत्वव्यवस्थितेः ।
पर्यायो हि कार्यद्रव्यरूपो गुणरूपः क्रियारूपो वानाद्यपर्यन्तद-

^१ प्रथम पुस्तके 'अनंतप्रवक्तुकाणा' मिति पाठः ।

न्यस्य स्याद्वादिभिरभिधीयते । तत्र पुद्गद्रव्यस्यानादिनिधि-
नस्य पर्यायः शब्दो द्रव्यमनित्यभिति तावनिशीयते, द्रव्यं शब्दः
क्रियागुणयोगित्वात्पृथिव्यादिवत्, क्रियावांशं शब्दः प्रव-
क्तुर्देशादेशान्तरप्राप्तिर्दर्शनात् सायकादिवत्तथा संख्यासंयोग-
विमागादिगुणाश्रयत्वेन प्रतीयमानत्वात् गुणवानपि शब्दः
प्रसिद्धः पृथिव्यादिवदेव । न हि शब्देषु संख्या न प्रतिभासते
कस्यचिदेकं वाक्यं द्वे वाक्ये त्रीणि वाक्यानीत्यादिसंख्या-
प्रत्ययस्यावाध्यमानस्य प्रतीयमानत्वात्, तथा क्षकारादीनां
संयुक्ताक्षराणां प्रतीतेः संयोगोपि शब्दानां प्रतीयत एव,
क्षकारादेजात्यन्तरस्योत्पत्तेरसयोगात्मकन्तपरिकल्पनायां दंड-
पुरुषसंयोगोऽपि माभूत्तथा दंडिनो जात्यन्तरस्य द्रव्यस्य प्रादु-
र्भावादिति सर्वं प्रतीतिवाधितपनुष्ठयते । ततः प्रतीतिप-
वाधितामिच्छन्निः शब्दः क्रियागुणयोगी तथा प्रतीतेरभ्युपग-
तव्यः । एतेन न क्रियागुणयोगी शब्दोऽवस्यगुणत्वात्तन्महत्त्वव-
दित्यनुभानं प्रत्युक्तं पक्षस्य प्रत्यक्षानुभावाधितत्वात्कालात्य-
यापदिष्टत्वाच्च हेतोः शब्दस्याकाशगुणत्वासिद्धेश्च । आकाशवि-
शेषगुणः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सत्याकाशात्मककरणग्राह-
त्वात् । यो यदात्मककरणग्राहः स तद्विशेषगुणो दृष्टो यथा पृथि-
व्यात्मककरणग्राहो गंभः पृथिवीविशेषगुणः, अःकाशात्मकश्रो-
त्रग्राहश्च शब्दस्याद्वाकाशविशेषगुण इत्यनुभानादाकाशवि-
शेषगुणवसिद्धिरित्यपि न सम्यक्, सत्प्रतिपक्षत्वादनुभानस्य ।
तथा हि—नाकाशविशेषगुणः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति-

वाशेन्द्रियप्रत्यक्षत्वाद् गंधादिवदिति प्रतिपक्षानुमानस्य सत्यस्थ
सञ्चावः, तथा न युणः शब्दः संस्कारवच्चवाद्वाणादिवदित्यनुपा-
नस्य च प्रतिद्वंद्विनः संप्रत्ययात् । संस्कारवच्चप्रसिद्धं शब्दस्येति
चेत्, न, वेगस्य संस्कारस्य शब्देषु भावात् वक्तुव्यापारादु-
त्पन्नस्य शब्दस्य यावद्वेगं प्रसरणात् । शब्दस्य प्रसरणप्रसिद्धं
शब्दान्तरारंभकल्पादिति चेत्, स तर्हि वक्तुव्यापारादेकः शब्दः
प्रादुर्भवत्यनेको वा? यद्ये रुस्तर्हि कथं नानादिकानानाशब्दा-
नारभेत सकृदिति चित्तनीयं । सर्वदिक्कनानाताल्वादिसंयोगज-
निताशकाशसंयोगानामपसमवायिकारणानां भावात्, सम-
वायिकारणस्य चाकाशस्य सर्वगतत्वात्, सर्वदिक्कनानाशब्दा-
नारभेत सकृदेकोऽपि शब्द इति चेत्; नैवं, तेषां शब्दस्यारंभ-
कल्पस्याप्यनुपत्तेः । यथैव ह्याद्यः शब्दो न शब्दान्तरजस्ता-
ल्वाद्याकाशसंयोगादेवासमवायिकारणादुत्पत्तेस्तथा सर्वदिक-
शब्दान्तरण्यपि न शब्दारब्धानि ताल्वादिव्यापारजनितवा-
य्वाकाशसंयोगेभ्य एवासमवायिकारणेभ्यस्तेषामुत्पत्तिघटना-
त्, तथोपगमे च संयोगाद्विभागाच्छब्दः च शब्दस्योत्पत्तिरिति
सिद्धांतव्याधातः । शब्दान्तराणां प्रथमः शब्दोऽसमवायिकारणं
तत्सदृशत्वादन्यथा तद्विमृशशब्दान्तरोत्पत्तिप्रसंगो नियामका-
भावादिति (केचि) चेत्, च, प्रथमशब्दस्य शब्दान्तरसदृशस्यान्य-
शब्दादसमवायिकारणादुत्पत्तिप्रसंगात्तस्याप्यपरपूर्वशब्दादिति
शब्दसंतानस्यानादित्वापत्तिः । यदि एुनः प्रथमः शब्दः प्रवक्तु-
व्यापारादेव प्रतिनियतादेवोत्पन्नः स्वसदृशानि शब्दान्तराणां-

रभत इति मतं तदा तत एव प्रवक्तुव्यापारात्पतिनियतवाद्वाका-
शसंयोगे भ्यस्तत्सद्वानि शब्दान्तराणि प्रादुर्भवन्तु किमादेन
शब्देनासमवायिकारणेनेति न शब्दाच्छब्दस्योत्पत्तिर्थंते,
नैकः शब्दः शब्दान्तराणामारंभकः संभवति । अथाऽनेकः शब्दः
प्रथमत उत्पत्तिः शब्दान्तराणि नानादिकान्यारभते इति द्विती-
यः पत्तः कक्षीक्रियते तत्रऽप्येकस्मात्ताल्वाद्वाकाशसंयोगात्क-
यपनेकः शब्दः प्रादुर्भवेदहेतुकत्वप्रसंगादेकस्मादेकस्यैवोत्पत्तेः
शेषस्य हेत्वभावात् । न चानेकताल्वाद्वाकाशसंयोगः सकृदे-
कस्य वक्तुः संभवति प्रयत्नैकत्वात्, न च प्रयत्नमन्तरेण ताल्वा-
दिक्रियापूर्वकोऽन्यतरकर्मजस्ताल्वाद्वाकाशसंयोगः प्रसूयते
यतोऽनेकः शब्दः स्यात् । प्रादुर्भवन्वा कुतश्चिदाद्यः शब्दो-
जनेकः स्वदेशे शब्दान्तराणायारभते देशान्तरे वा ? न ताव-
त्स्वदेशे देशान्तरेषु तच्छब्दणविरोधात् भिन्नदेशस्थश्रोतृजन-
श्रोत्रेषु समवायाभावात्, तत्रासमवेतस्याप्यनेकस्य शब्दान्तरस्य
श्रवणे श्रोत्रस्याप्यकारित्वाप्तेः, शब्दान्तरारंभपरिकल्पना-
नैयथ्यचाव्यस्यैव शब्दस्य नानादिकैर्योग्यदेशस्यैः श्रोतृभिः
श्रवणस्योत्पत्तेः, अनेक द्यशब्दपरिकल्पनावैयथ्यर्ज्ञ तस्यैकस्यै-
व स्वदेशे प्रादुर्भूतस्य नानाश्रोतृभिरुपलंभात् स्वदेशे सतो
रूपस्य नानाहृष्टभिरुपलंभवत् । स्यान्मतं, नायनरशपयः प्राप्य
रूपमेकदेशवर्त्त्यपि नानाद्रष्टृजनानां रूपोपलंभं जनयन्ति न
पुनरप्राप्य येन रूपोपलंभो दृष्टान्तः शब्दोपलंभस्याप्राप्तेरेव
श्रोत्रैः साध्यत इति तदपि न श्रेयः । श्रोत्रविवत्तविशेषैः प्रा-

स्त्रैव शब्दस्योपलंभप्रसंगात् । शक्यं हि वक्तुं नानादेशस्थ-
जनकरणानि प्राप्य शब्दमेव मुपलंभयन्ति सकृचानादिगदेश-
वर्तिभिः प्रतिपत्तृभिरुपलभ्यमानत्व द् रूपवदिति । गंधेन व्य-
भिचार इति चेत् न, तस्यापि पक्षीकृतत्वात्, सोऽपि कस्तूरि-
कादिद्रव्यवर्ती नानादिगदेशवर्तिभिर्जैरुपलभ्यमानः स्वस्व-
ग्राणकरणैः कथंचित्संप्राप्त एवोपलंभहेतुर्घटते गंधस्य देशान्त-
रस्थजनघणेषु गमनासंभवाद् गुणस्य निष्क्रियत्वाद् गंधपरमा-
णानां गमनेऽपि तत्समवेत्तर्गंधस्यानुपलभ्यमानत्वात्, अनेकद्रव्ये-
ण समवायाद्रूपविशेषाच्च रूपोपलभिरत्यनुवर्त्तयाने, एतेन गंध-
रसस्पर्शेषु ज्ञाने व्याख्यातमिति वैशेषिकैरभिधानात् । गन्ध-
द्रव्यावयविनामुपलभिलक्षणप्राप्तानां देशान्तरेषु गमने तु मौल-
करतूरिकादिद्रव्यस्य परमाणवो गंधसमवायिनो गच्छन्ति नाऽपि खंडावयविहृषा-
वयवानां तदारंभकानां गमनात् । यदि गुनाने कस्तूरिकादि-
द्रव्यस्य परमाणवो गंधसमवायिनो गच्छन्ति नाऽपि खंडावयविनस्तदारंभकावयवास्ततो गन्धद्रव्यान्तरणामुत्पत्तिरिति मतं,
तदाऽपि तदारंभकैः पार्थिवैः परमाणुभिर्भवितव्यं द्रव्यणुकादि-
भिर्वाऽनुपलभैरेवोपलभिलक्षणप्राप्तानां पार्थिवावयविनामुप-
लभियप्रसंगात् । न चानुपलभिलक्षणप्राप्तैः पार्थिवद्रव्यैरारब्धेषु
द्रव्यांतरेषु समवेत्तस्य गंधस्योपलभियुक्त्यते परमाणुसमवेत्तर-
घवदिति न गन्धद्रव्यान्तरणि कस्तूरिकादिगन्धद्रव्यमारभन्ते
यतः प्राप्तान्येव दूरस्थप्रतिपत्तृग्राणतद्विषयतामनुभवेयुद्धाणेन्द्रि-
यविवृतिभिस्तु गत्वा गन्धस्य यहणे प्रोक्तदोषानवकाश इति

शोत्रघाणरसनस्पर्शनानि गत्वा स्वविषयज्ञानं जनयन्ति वा-
शेन्द्रियत्वाच्चनुर्वदन्यथा तेषामपाप्यकारित्वप्रसंगात् । ततो न
व्यभिचारः शब्दस्य नानादिकनकरण्यांगमाधनस्योक्तहे-
तोरिति नान्यादनेकस्मादपि शब्दाच्छब्दान्तरोत्पत्तिः संभव-
तीति सर्वदिकपरापरशब्दप्रसरणं यावद्गमयशुएगन्तव्यं । तथा च
संस्काराच्छयगुणयोगित्वं नामिदं यतः सूक्तमिदं न स्यात् ‘न
गुणः शब्दः संस्कारवच्चाद्वाणादिवदिति’ पुद्लद्रव्यपर्यायात्म-
कत्वे तु गंधादिवदित्यभ्यनुज्ञायमाने न किञ्चिद्भाषकमस्ति । ननु
च न स्पर्शवत् द्रव्यगुणः शब्दोऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सत्यकारणगु-
णपूर्वकत्वात्सुखादिवदिति वाभकसञ्ज्ञावान् पुद्लद्रव्यपर्यायित्वं
शब्दस्य व्यवतिष्ठते सुखादेरपि तथाभावप्रसंगादिति कश्चित् । सोऽ-
पि स्वदर्शनप्रक्षपाती, परीक्षयपाणस्याकारणगुणपूर्वकत्वस्यामिद-
त्वात्, कारणगुणपूर्वकः शब्दः पुद्लद्वकन्धपर्यायत्वाच्छ्रायात-
पादिवत्, पुद्लद्वकन्धपर्यायः शब्दोऽस्मदादिवाद्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वा-
च्छ्रायत् । न घटत्वादिसामान्येन व्यभिचारस्तस्यापि समानपरिणा-
मलक्षणस्थ पुद्लद्रव्यपर्यायित्वमिदेः तदसिद्धमेवाकारणगुण-
पूर्वकत्वं शब्दस्य न साध्यमिदिनिवंधनं कारणगुणपूर्वकत्वेन
साधनात् । हेतुविशेषणं चास्मदादिप्रत्यक्षत्वे सतीति व्यर्थमेव ।
परमाणुरूपादिव्यभिचारनिवृत्तर्थं तदिति चेत् न, परमाणु-
रूपादीनामपि कारणगुणपूर्वकत्वसिद्धेः, परमाणुनां इकंधये-
दकार्यत्वात् तदगुणपूर्वकत्वव्यवस्थितेः परमाणुरूपादीनामिति
निर्णीतिशायं । यदप्युक्तं न स्पर्शवद्वव्यगुणः शब्दोऽस्मदादि-

प्रत्यक्षत्वे सत्ययावद्द्रव्यभावित्वान्सुखादिवदिति, तदप्ययुक्तं
विरुद्धत्वात्साधनस्य । तथा हि-स्पर्शवद्द्रव्यगुणः शब्दोऽस्पदा-
दिप्रत्यक्षत्वे सत्ययावद्द्रव्यभावित्वाद् रूपादिविशेषत्, नात्र
साधनविकलमुदाहरणं रूपादिविशेषाणां यावत्पुहलद्रव्यम-
भावात् पूर्वरूपादिविनाशादुत्तररूपादिविशेषप्रादुर्भावात् ।
नाऽपि साध्यविकलं रूपादिविशेषाणां स्पर्शवद्द्रव्यगुणत्वाव-
स्थितेः । सुखादिभिर्व्यभिचारः साधनस्येति चेत्, नास्पदा-
दिप्रत्यक्षत्वे सतीति विशेषणात् । न च सुखादयः शब्दवदऽस्म-
दादीनां बहूनां प्रत्यक्षाः, स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण तु कस्यचित्
सुखादयः स्वस्यैव प्रत्यक्षा न पुनर्नानास्पदादीनामिति न तै-
र्व्यभिचारः । स्वस्याप्यस्पदादिग्रहणेन यृहीतत्वात् स्वप्रत्यक्ष-
त्वप्यस्पदादिप्रत्यक्षत्वं सुखादीनां प्रत्यक्षसामान्यापेक्षयास्प-
दादिप्रत्यक्षत्ववचनादिति चेत्, तथाऽपि न सुखादिभिर्व्य-
भिचारः, स्याद्वादिभिः सांसारिकसुखादीनां कथंचित्स्पर्शवद्-
द्रव्यगुणत्वस्य प्रतिज्ञानात् । यथैव ह्यात्मपर्यायाः सुखादयश्चिद्द्रू-
पसमन्वयास्तथा सद्वेचादिपौद्वलिककर्पद्रव्यपर्यायाश्च, स्वपरत-
त्रीकरणरूपसमन्वयादौदियिकभावानां वर्मद्रव्यस्वधावत्वसिद्धेः ।
मृक्तसुखज्ञानदर्शनादिभिस्तु गुणैरस्पर्शवद्द्रव्यात्मगुणैर्न व्य-
भिचारस्तेषामस्पदाद्यप्रत्यक्षत्वादस्पदादिविशिष्टयोगिप्रत्यक्ष-
विषयत्वस्तेषामयावद्द्रव्यभावित्वाभावज्ञानंतत्वेन यावदात्म-
द्रव्यं भवनशीलत्वात् । ततो निरवद्यमेव विरुद्धसाधनत्वमेतत्स्य
इतोरिति स्पर्शवद्द्रव्यपर्याय एव शब्दः प्रतीतिवलात्मित्यः ।

शब्दयोग्यपुद्गलानां सर्वत्र भावादन्यथा कच्चित्तरुचादिकारण-
सद्भवेऽपि शब्दपरिणामानुत्पत्तिप्रसंगात् । न च शब्दपरिणा-
मनिमित्तसञ्चिधौ कच्चित्कदाचिच्छब्दानुत्पत्तिः स्यात्स च श-
ब्दपरिणामो नैक एव नानाश्रोतुभिः अवणविरोधात् । श्रोत्रस्था-
प्राप्यकारित्वात् तद्विरोध इति चेत् ; न, तस्याप्राप्यकारित्वे
कर्णशब्दकुल्यन्तः प्रविष्टमशकशब्दग्रहणायोगात् चक्षुषोऽप्रा-
प्यकारिणः तारकाप्राप्तांजनादिग्रहणादर्शनात्तथा चेदमभिधी-
यते—नाप्राप्यकारि श्रोत्रं प्राप्तशब्दग्रहणात्पर्शनादिवत्, यन्पु-
नरप्राप्यकारि तत्र प्राप्तविषयग्राहि वृष्टं यथा चक्षुरिति नि-
श्चितव्यतिरेकादनुपानादप्राप्यकारित्वप्रतिषेधः श्रोत्रस्य श्रेया-
नेव । ननु चाप्राप्यकारिणा मनसा प्राप्तस्य सुखादेर्ग्रहणाद्
व्यभिचार इति चेत्त चेत् न, दूरस्थैरपि मनसः प्राप्तिप्रसंगात्,
मनसा संयुक्ते पुंसि सुखादेः समवायात् संयुक्तस-
पवायप्राप्तिरिति चेत् न, दूरस्थैरपि मनसः प्राप्तिप्रसंगात्,
मनसा संयुक्तस्यात्पन्नैः संयोगात्संयुक्तसंयोगम्य प्राप्ति-
त्वात्, साक्षात्तैरप्राप्तिप्रसंगात् इति चेत्, सुखादिभिरपि साक्षा-
त्वाप्तिः किमस्ति ? परंपरया तैर्प्रसंगः प्राप्तिप्रस्तु न प्राप्यकारित्वं
साधयति दूरस्थैरवेति सर्वत्राऽप्यप्राप्य + अरित्वे मनसस्ततो
न तेन व्यभिचार इति श्रेयानेव श्रोत्रस्य प्राप्यकारित्वसाधनो
हेतुः । ये त्वाहुः शब्दोऽप्राप्त एवेद्रियेण गृह्यते दूरादित्वेन
गृह्यपाणत्वाद्रूपवदिति । तेऽपि न परीक्षकाः, गंधेन व्यभिचा-
रात् साधनस्य । गन्धद्रव्यस्य गन्धाधिष्ठानस्य दूरादित्वात्

गंधस्य दूरादित्वेन गृह्यमाणत्वात् तेन व्यभिचार इति चेत्
न, शब्दस्यापि तदधिष्ठानभेर्यादिदूरादित्वेन दूरे शब्दो दूरतरे
दूरतमे वेति ग्रहणादुपचारात्, दूरादित्वेन गृह्यमाणत्वस्य हेतोः
परमार्थतोऽसिद्धत्वापत्तेः । ततः प्राप्त एव शब्दो विवादा-
पन्नः परिगृह्यते शब्दत्वात्कर्णशष्ठकुल्यन्तःप्रविष्टप्रश्नशब्द-
वदिति प्राप्यकारि श्रोत्रं सिद्धं । तथा चैवस्य शब्दस्य युग-
आनादेश्यजनश्रोत्रैः प्राप्त्यसंभवान्नानाशब्दपरिणामाः सर्व-
दिकाः प्रजायन्ते स्वप्रतिवन्धकुड्याद्यसंभवे स्वावरोधकनलि-
काद्यसंभवे च स्वप्रतिवातक्यन्तस्तकुड्यादिविरहे च सति गंध-
परिणामवत्, समानाश्च सर्वे गच्छादिशब्दविवर्ताः समानताल्वा-
दिकारणप्रभवत्वात्समानकस्तुरिकादिद्रव्यप्रभवगन्धविवर्तवत्,
शब्दोपादानपुट्गलानां सर्वशब्दपरिणामसमर्थानां सर्वत्र सद्भा-
वेऽपि प्रतिनियतहेतुवशात्प्रतिविशिष्टशब्दपरिणामाश्च निश्ची-
यन्ते, गन्धोपादानपुट्गलानां सर्वेषां सर्वत्र सर्वगन्धपरिणाम-
समर्थानां संभवेऽपि प्रतिनियतहेतुगन्धवशात्प्रतिविशिष्टगन्ध-
परिणामवत् ।

ननु च वायव एव शब्दोपादानं तेषां सर्वत्र सर्वदा सद्भा-
वादन्यथा व्यञ्जनादिना तदभिव्यक्तेरयोगाद्वेगवद्व्यन्तरेणा-
भिव्यात्तचेति केचित् । तेऽपि वायवीयं शब्दमाचक्षाणाः श्रो-
त्रयाद्य कथमाचक्षीरन् तस्य स्पर्शनग्राह्यत्वप्रसंगात्स्पर्शवत् ।
तथा हि-वायवीयस्पर्शनेन्द्रियग्राह्यः शब्दो वायवसाधारणगु-
णत्वात्, यो यदसाधारणगुणः स तदन्द्रियग्राह्यः सिद्धो यथा

पृथिव्यमेजोऽसाधारणगुणो गंधरसरूपविशेषगुणः पार्थिवाप्य-
तैजसग्राणरसननयनेन्द्रियग्राहः, वाय्वसाधारणगुणश्च शब्द-
स्तस्माद्वायवीयस्पर्शनेन्द्रियग्राह इति श्रोत्रपरिकल्पनावैयर्थ्य-
मापद्येत् । यदि पुनराकाशसहकारिकरणात्वाच्छब्दस्याकाश-
समवायेन श्रोत्रेण ग्रहणमुररीक्रियते तदा स्पर्शस्याऽपि श्रोत्र-
ग्राहान्वप्रसंगस्तस्याप्यकाशसहकारिवायूयादानत्वाच्छब्दवत् ।
गन्यादीनां च श्रोत्रवैद्यत्वं स्यादाकाशसहकारिपृथिव्याद्युपा-
दनत्वात् । न द्वाकाशं कस्यचिदुत्पन्नो स्वोपादानात्सहकारि न
भवेत्, सर्वोत्पचामतां निपित्तकारणात्कालादिवत् । स्यान्मतं,
नाऽपि नियमोऽस्ति यो यद्साधारणगुणः स तदिन्द्रिय-
ग्राह इति पार्थिवस्य पंचप्रकारस्य वर्णस्य पट्टप्रकारस्य रसस्था-
नुषणाशीतस्य पाकजस्य स्पर्शभ्य च पार्थिवग्राहेन्द्रियग्राहत्व-
प्रसंगात्तथा शीतस्पर्शस्य शीतस्य च रूपस्याप्यरसनेन्द्रियवैद्य-
त्वं, तैजसस्य चोषणस्पर्शस्य तैजसचक्षुर्वैद्यत्वं कथं विनिवार्येत् ?
तन्नियमकल्पनायामिति यस्य यस्मादिन्द्रियाद्विज्ञानमुत्पद्यते तस्य
तदिन्द्रियग्राहत्वं व्यवतिष्ठते तथा प्रतीतेरतिलंघयितुमशक्तेः केव-
लमिन्द्रियस्य प्रतिनियतद्रव्योपादानत्वं साध्यते प्रतिनियतगुण-
ग्राहकत्वादिति । तदेतदसारं, प्रतिनियतद्रव्योपादानत्व-
स्य ग्राणादीनां साध्यितुमशक्तत्वात् । पार्थिवं ग्राहणं रूपा-
दिषु सञ्चिहितेषु पार्थिवगन्धस्यैवाभिव्यंजकत्वान्नागकर्णि-
काविर्मद्करतलवदित्यनुमानस्य सूर्यरशिमभिरुदकसेकेन
चानेकान्तात् । हइयते हि तैलाभ्यक्तस्य सूर्येमरीचि-

भिर्मन्थाभिव्यक्तिर्भूमेस्तद्दक्षेकेनेति । तथा रसनेद्रियमाप्य-
मेव रूपादिषु सन्निहितेषु रसस्यैवाभिव्यंजकत्वाल्लालावदि-
त्यत्राऽपि हेतोर्लेवणेन व्यभिचारात्तस्यानाप्यन्वेन रसाभिव्यं-
जकत्वसिद्धेः । तथा चक्षुस्तैजसमेव रूपादिषु सन्निहितेषु रूप-
स्यैवाभिव्यंजकत्वात्प्रदीपादिवदित्यत्राऽपि हेतोर्माणिक्योद्यो-
तेन व्यभिचारात् । न च माणिक्यप्रभा तैजसी मूलोषाद्रव्य-
वती प्रभा तैजस्तद्विपरीता भूरिति वचनात् । तथा वायव्यं स्पर्शनं
रूपादिषु सन्निहितेषु स्पर्शस्यैवाभिव्यंजकत्वात्तोषशीतस्पर्शव्यंज-
कत्वाग्वक्यविवदित्यत्राऽपि कर्षुरादिना सलिलशीतस्पर्शव्यंजकेन
हेतोर्व्यभिचारात्, पृथिव्यमेजःस्पर्शाभिव्यंजकत्वाच्च स्पर्शनेन्द्रियस्य
पृथिव्यादिकार्यत्वप्रसंगाच्च वायुस्पर्शाभिव्यंजकत्वाद्वायुकार्यत्ववत्
एतेन चक्षुपस्तेजोरूपाभिव्यंजकत्वात्तेजःकार्यत्ववत्पृथिव्यप्स-
भवायिरूपव्यंजकत्वात्पृथिव्यप्कार्यत्वप्रसंगः प्रतिपादितः । रस-
नस्य चाप्यरसाभिव्यंजकत्वादपकार्यत्ववत्पृथ्वीरसाभिव्यंजक-
त्वात्पृथिवीकार्यत्वप्रसंगश्च तथा नाभसं श्रोत्रं रूपादिषु सन्निहि-
तेषु शब्दस्यैवाभिव्यंजकत्वात्, यत्पुनर्न नाभसं तत्र शब्दाभि-
व्यंजकं यथा ग्राणादि, शब्दस्याभिव्यंजकं च श्रोत्रं त-
स्माक्षाभसपित्यनुपानस्याप्यप्रयोजकत्वात् नभोगुणत्वासिद्धेः
शब्दस्य समर्थनात् नभसि सपवेतस्य ग्रहणासंभवात् । ततो
नेन्द्रियाणि प्रतिनियतभूतप्रकृतीनि व्यवतिष्ठन्ते प्रपाणाभा-
वात् प्रतिनियतेद्रिययोग्यपुद्गलारब्धानि तु द्रव्येद्रियाणि प्रति-
नियतभावेन्द्रियोपकरणात्वान्यथाऽनुपपत्तेभविन्द्रियाणामेव स्प-

र्शनादीनां स्पर्शादिज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषलक्षणानां स्पर्शादिप्रकाशकत्वसिद्धेरिति पौद्गलिकः शब्दः पौद्गलिकद्रव्येन्द्रियाभिव्यंग्यत्वात्स्पर्शरसगन्धवर्णवत्, न पुनर्वायवीयो नभोगुणो वा सर्वगतामूर्च्छनित्यद्रव्यं वा प्रमाणाभावात् । प्रपञ्चतः प्रतिपादितं चैतत् तत्त्वार्थालंकारे प्रतिपत्तवर्यं । तेन शब्दस्य द्रव्यं पुद्गलाख्यं वहिरंगस्य निश्चीयते, तथा च स्वद्रव्यतः शब्दात्मकं वाक्यमस्ति न परद्रव्यतः, सर्वात्मकत्वप्रसंगात्, परद्रव्यतश्च नास्ति वाक्यं न पुनः स्वद्रव्यतस्तस्याद्रव्यात्मकत्वप्रसंगादिति विधिप्रतिषेधात्मकं वाक्यं सिद्धम् । तथा स्वक्षेत्रकालाभ्यामस्ति वाक्यं न परक्षेत्रकालाभ्यां सर्वक्षेत्रकालात्मकत्वप्रसंगात्, परक्षेत्रकालाभ्यामेव नास्ति न पुनः स्वक्षेत्रकालाभ्यां, तस्याक्षेत्रकालत्वापत्तेः । तदेवं सामान्यतो विधिनिषेधात्मकं वाक्यं सर्वान्तवत्कथ्यते सर्वान्तानां विधिनिषेधाभ्यां संग्रहात्, तदनात्मकस्य कस्यचिदन्तस्यासंभवात् । विशेषतस्तु भेदाभेदात्मकं द्रव्यपर्यायव्यक्त्यात्प्रकृत्वात्, तत्र द्रव्यं शब्दः क्रियावत्त्वाद्वाणादित्तदिति शब्दयोग्यपुद्गलद्रव्यार्थदेशाद् द्रव्यत्वसिद्धिः, तथा पर्यायः शब्दः प्रादुर्भावप्रधंसवत्त्वाद्वादित्तदिति श्रवणज्ञानग्राह्यशब्दपर्यायार्थदेशादिति पर्यायत्वसिद्धिः । तथा विसद्वशपरिणामविशेषात्मकं सद्वशपरिणामसामान्यात्मकं च वाक्यं शब्दद्रव्याणां शब्दपर्यायाणां च नानात्वात्परस्परायेक्या समानेतरपरिणामसिद्धेर्गन्धादिद्रव्यपर्यायवदिति सर्व-

न्तवद्वाक्यं सिद्धं द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषेषु सर्वान्तानापन्तर्भा-
वात्सर्वस्यान्तस्य तत्स्वभावानतिक्रमात् ।

नन्वेवं द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मकस्य सर्वान्तवस्थे
वाक्यस्य युगपत्तशा व्यवहारप्रसंग इति न शंकनीयं, तद्गु-
णमुख्यकल्पमिति वचनात् । द्रव्यस्य हि गुणत्वकल्पनायां
पर्याप्तस्य मुख्यत्वकल्पनात्पर्यायो वाक्यमिति व्यवहारः प्रव-
र्चते पर्याप्तस्य तु गुणकल्पनत्वे मुख्यकल्पं द्रव्यमिति वाक्ये
द्रव्यत्वव्यवहारः प्रतीयते तथा सामान्यस्य गुणकल्पत्वे विशेषस्य
च गुणकल्पत्वे सामान्यस्य मुख्यकल्पनात्सामान्यं वाक्यमिति
व्यवहारात्, सुनिर्णीतिः संभद्राधकमपाणात्सर्वान्तवद्वाक्यं नि-
श्चीयते, संकरव्यतिकरव्यतिरेकेण सर्वान्तानां तत्र व्यवस्था-
नाद्विरोधादीनां तत्र नदकाशात्परम्परापेक्षत्वात् । न चैवं पर-
स्परनिरपेक्षमपि सर्वान्तवद्वाक्यं कल्पयितुं शक्यं “सर्वान्तशून्यं
च पिथोऽनपेक्ष”मिति वचनात् । न हि विधिनिरपेक्षो निषेधो-
स्ति कस्यचित्कथं चित्कचिद्विधीयमानसपैत्रान्यत्र इन्द्रियान्यथा
निरेधमानत्वदर्शनात्, नाऽपि निषेधनिरपेक्षो विधिरस्ति सर्वस्य
सर्वात्मकत्वप्रसंगात् । तथा न द्रव्यपर्यायो मिथोऽनपेक्षौ नत्त-
ज्ञावान्यथानुपपत्तेः, नापि सामान्यविशेषौ मिथोऽनपेक्षौ विद्येते
लज्जाविरोधादिति सर्वान्तशून्यं च मिथोनपेक्षं वाक्यं सिद्धं;
तद्विषयत्वात्परमनिरपेक्षाणां सर्वेषामन्तानामेकत्वादीनां नि-
रुप्यमाणानां सर्वथाऽप्यसंभवात् ।

तेन यदुक्तं धर्मकीर्तिना-

भावा येन निरूप्यन्ते तद्रूपं नास्ति तत्त्वतः ।

यस्मादनेकमेकं च रूपं तेषां न विद्यते ॥ इति ।

तत् स्याद्वादिनामभिमतमेव ।

तदेतत्तु सपायातं यद्वदनित विपश्चिवतः ।

यथा यथार्थाद्विचर्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ॥

इत्यादिवत् । परस्परनिरपेक्षाणां केनचिद्बोपेणार्थानां वग्वस्थापयितुमशक्यत्वात् । ततः सर्वापिदामन्तकरं तवैव परमागमलक्षणं तीर्थं सकलदुर्नेत्रानामंतकरत्वात्तकारणशारीरिकपानसिकविविधदुखलक्षणानामापदामन्तकरत्वोपपत्तः । मिथ्यादर्शननिमित्ता हि सर्वाः प्राणिनामापद इति सर्वमिथ्यादर्शनानामन्तकरं तीर्थं सर्वापदामन्तकरं सिद्धं । तत एव निरंतं केनचिन्पिथ्यादर्शनेन विच्छेत्तुपशक्तेरविच्छेदत्वसिद्धेः । तथा सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव सर्वेषामभ्युदयकारणानां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रभेदानां हेतुत्वादभ्युदयहेतुत्वोपपत्तेः । सर्व उदयोऽभ्युदयोऽस्मादिति सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैवेति वचनात् । परेषां तदसंभवः सिद्धं एव ।

ननु परोऽप्येवं ब्रूपाच्चैरात्म्यवादिन एव तीर्थं सर्वोदयं सर्वापिदामन्तकरं न पुनः परेषामिति । तदुक्तम्—

साहंकारे पनसि न शमं याति जन्मप्रबंधो

नाहंकारश्चलति हृदयादात्मदृष्टौ च सत्याम् ।

अन्यः शास्ता जगति च यतो नास्ति नैरात्म्यवादा-

ब्रान्यस्तस्मादुपशमविधेस्त्वन्मतादस्ति मार्गः ॥ इति
तथाऽन्यः परमात्मवादी ब्रूयात्परमब्रह्मण एव तीर्थ स-
वोदयं न परेषां नैरात्म्यवाचादीनां तत्र संशयहेतुल्वात् ।

तथा चोक्तम्—

यो लोकाब्ज्वलयत्यनलग्नमहिमा सोऽप्येष तेजोनिवि-
र्यस्मिन्सत्यवभाति नासति पुनर्देवोऽशुपाली स्वयम् ।
तस्मिन्वोधयप्रकाशविशदे मोहान्धकारापहे,
येऽन्तर्यामिनि पूरुषे प्रतिहताः संशेरते ते हताः ॥
एवमन्योपीश्वरवादीश्वगदेरेव तीर्थ सवोदयमिति स्या-
द्वादितीर्थपनेकधा द्वेष्टि । सोऽपि—

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः

समीक्षतां ते समद्विषिष्टम् ।

त्वयि ध्रुवं खंडितमानशृंगो

भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥ ६३ ॥

टीका—कामं यथेष्टुं स्वदुरागपवासनावशीकृतान्तःक-
रणः सर्वथैकान्तवादी द्विषन्नपि तवानेकान्तामृतसमुद्दस्य तीर्थ
दर्शनपोहोदयाकुलित्वुद्दिस्ते तवेष्टपनेकान्तात्मकमन्तर्वद्विश्व
जीवादितच्च समीक्षतां परीक्षतां समद्विष्टः सन्मध्यस्थवृत्तिरूपप-
त्तिचक्षुर्भूत्वा, मात्सर्यचक्षुषस्तच्चसमीक्षायामनधिकारादसपह-
ष्टेश रागदेषकलुषितात्मन इत्युभयविशेषणवचनमुपपत्तिचक्षुः स-
मद्विषिष्टिति, स तथा समीक्षमाणस्तवेष्टुं शासनं त्वयेव भगवति

खंडितपानशृंगो भवति ध्रुवमिति संबंधः । मानो हि सर्वथै-
कान्ताभिपानः स एव शृंगं स्वाश्रयस्य विवेकशून्यतया पशुकर-
णात्, खंडितं ग्रतिध्वसं पानशृंगं यस्य स खंडितपानशृंगः,
परित्यक्तसर्वथैकान्ताभिपान इत्यर्थः । तथा चाऽभद्रोऽपि
मिथ्याहृषिरपि समंतभद्रः समन्ततः सम्यग्दृष्टिर्भवतीति
तात्पर्य । अभद्रं हि संसारदुःखमनंतं तत्कारणात्वान्मिथ्याद-
र्शनपभद्रं तद्योगान्मिथ्याहृषिरभद्रं इति कथयते स च सम्पृष्टि-
भूत्वोपपत्तिचक्षुषा समीक्षमाणम्भतवैष्टुं श्रद्धते सर्वथैकान्त-
वादीष्टस्योपपत्तिशून्यत्वात्त्रोपपत्तीनां मिथ्यात्वात्तदभिपा-
नविनाशात्, तथा तवैष्टुं श्रद्धशानश्च पम्यग्दृष्टिः स्यात्समन्ताद्भ-
द्रस्य कल्पणास्यानंतसुखकारणस्य सम्यग्दर्शनस्य प्रादुर्भावा-
त्समन्तभद्रो भवत्येव । मति दर्शनमोहनिगमे परीक्षायास्तत्का-
रणत्वात्, तत्त्वपरीक्षा हि कुतश्चित्परीक्षणानावरणवीर्यान्तरा-
यक्षयोपशमविशेषात्कस्यचिक्कदाचिकथंचित् प्रवर्तेत्, सा च
प्रवर्तमाना तत्त्वनिश्चयमतत्त्वव्यवच्छेदेन घटयति, तद्दृष्टना च
दर्शनमोहोपशमंक्षयक्षयोपशमम द्रावे तत्त्वश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं
प्रादुर्भाविति । तेनोपपत्तिचक्षुषा समीक्षां विदधानः सम्यग्दृष्टिः
समंतभद्रः स्यादिति प्रतिपद्येमहि वाचकाभावात् । न हि परी-
क्षायामुपरत्तिवलान्नैरात्मयेवोपशमविधेयर्पणं इति उपवतिष्ठते ।

स्यान्मतं, जन्मप्रबंधस्य कारणमहंकारस्तद्भवे भावात्तद-
भावे चाभावात्तस्य चाहंकारस्य कारणमात्पद्धृष्टिः, सा च-
नैरात्म्यभावनया तद्विरुद्धया प्रशम्यते तदुपशमाच्चाहंकारश्चेव-

तसि समूलतलमुपशाम्यति तदुपशमाच्च देहिनां जन्मप्रबंधस्योपशमो निशीयते तेन तत्कारणाभावात्तेनोपपत्तिवलादेवोपशमविधेनैरात्म्यभावनैव पार्गः समवतिष्ठते । तदसदेव, आत्मदर्शनस्यैव जन्मप्रबंधोपशमविधिमार्गः वोपपत्तेस्तथा हि—जन्मप्रबंधस्य हेतुरहंकारो मोहोदयनिमित्तोऽहंतामात्रनिमित्तो वा ? प्रथमपक्षे नात्मदष्टिहेतुः स्यादविद्यात् तृष्णाक्षयेऽपि चित्तप्रात्रनिवंधनत्वप्रसंगः त् । सत्येवाविद्यात् तृष्णोदये चित्तपहंकारस्य हेतुरिति चेत्, तर्हि सत्येव मोहोदयेऽहंकारहेतुरात्मदष्टिरिति किमनुपान्नं । द्वितीय क्षे तु युक्तिविरोधः, संसारस्याहंतामात्रनिमित्तवे मुक्तस्यापि संवारप्रवर्षगात्, ततो नाहंतामात्रं जन्मप्रबंधहेतुरविद्यात् तृष्णाशून्यत्वात्सुगतचित्ताहंतामात्रवदित्युपपत्त्याऽहंतामात्रहेतुल्वं संमारस्य बाध्यत एव । न च सुगतचित्तस्याहंतामात्रमपि नास्तीति युक्तं वक्तुं, स्वसंवेदनस्याहं सुगत इति प्रतिभासमानस्याभावप्रसंगात् । न द्विहपिति विकल्पोऽहंताम त्रं मकलविकल्पशून्यस्य योगिनस्तदसंभवात्, नाऽप्यहपस्य स्वामीति ममेदभावोऽहंतामात्रं तस्य मोहोदयनित्तस्य क्षीणपोहे योगिनि संभवाभावात् । ततो न साध्यशून्योद्घृतः साधनशून्यो वा सुगतचित्ते स्वयमविद्यात् तृष्णाशून्यत्वस्य सौगतैरभीष्टत्वं त् । नन्वात्मदष्टिविद्यात् तृष्णाशून्यत्वासंभवादात्मदष्टेरेव विद्यात्वाटविद्याया एव च तृष्णाहेतुन्वादविद्यात् तृष्णाशून्यत्वमसिद्धमेवेति चेत्, नात्मदष्टेरविद्यात्वासिद्धेश्चित्ततृष्णादष्टित् यथैव हि प्रतिक्षणं चित्तदर्शनं विद्या तदन्तरेण

बुद्धिसंचरणानुपत्तेस्तथानाद्यनंतात्मदृष्टिरपि तदभावेऽहंताप्रत्यभिज्ञानस्थानुपत्तेः । चित्तसंतानोऽहंताप्रत्यभिज्ञानहेतुरिति चेत् न, तस्यावस्तुत्वात्, वस्तुन्वे वा स एवात्मा स्थान्नापमात्रभेदात् । ततः कथंचिच्छित्यस्य क्षणिकस्य चात्मनो दर्शरहंकारनिवंधनजन्मप्रन्यस्य महेतुकाहंकारनिवृत्तिहेतुत्वसिद्धेनस्याविद्यातुश्शाशूर्बंधस्योपशमोपत्तेन नैरस्तम्यभावनोपशमविधेमर्गः सिध्येत्पुरुषाद्वैतभावनावत् ।

न हि पुरुषः द्वैते संसारमोक्षतत्कारणसंभवो द्वैतप्रसंगात् । नाऽपि केचिल्लोकाः सन्ति तेजोनिधिर्वा यस्तान् उत्तालयति भाति च परमात्मनि सन्येव नासतीति मोहान्यकारापहो बोधमयमकाशविशदोऽन्तर्यामी पुरुषः सिद्धयेत्, तस्मिंश्च ये संशोरते ते हताः स्युः । सर्वस्यास्य प्रपञ्चस्यानाद्यविद्यावलात्परिकल्पने च न परमार्थतः कश्चिदुपशमविधेमर्गः स्यान्नैरात्म्यदर्शनवत् । एतेनेश्वरादिरेतोपशमविधेमर्गि इति ब्रुवन्निरस्तः, तस्याप्युपत्तिवाधितत्वात्सुगतादिवदित्याप्सरीक्षायां विस्तरतस्तत्त्वार्थालंकारे च निरूपितं ततः प्रतिपत्तव्यं ।

नन्येवं भगवति वर्द्धपाने रागादेव भवतां स्तोत्रं द्वेषादेव चान्येषु दोषोऽन्नावनं न पुनः परमार्थत इत्याशंकां निराकुर्वन्तो वृत्तमाहुः—

न रागान्नः स्तोत्रं भवति भवपाशच्छिदि मुनौ

न चान्येषु द्वेषादपगुणकथाभ्यासखलता ।

**किमु न्यायान्यायप्रकृतगुणदोषज्ञमनसां
हितान्वेषोपायस्तव गुणकथासंगगदितः । ६४।**

टीका—न रागान्वोऽस्माकं परीक्षाप्रधानानां भवति व-
द्दमाने 'स्तोत्रं प्रवृत्तं कीर्त्या महत्या भुवि वर्धमानमित्यादिकं
भवतो मुनेर्भवपाशच्छेदित्वात्तदर्थितया स्तोत्रस्योपपत्तेः; न चा-
न्येष्वनेकान्तवादिषु देषादेवापगुणकथाभ्यासेन खलता न-
स्तत एव किमुत न्यायान्यायज्ञमनसां प्रकृतगुणदोषज्ञमनसां च
च हिताहितान्वेषणोपायस्तव गुणकथासंगेन गदित इति ना-
प्रेक्षापूर्वकारिता स्तुरेः, श्रद्धागुणज्ञतयोरेव परमात्मस्तोत्रे युक्तच-
नुशासने प्रयोजकत्वात् । साम्प्रतं स्तोत्रफलं मूरयः प्रार्थयन्ति ।
इति स्तुत्यः स्तुत्यैस्त्रिदशमुनिमुख्यैः प्राणिहितैः
स्तुतः शक्तया श्रेयः पदमधिगतस्त्वं जिन मया ।
महावीरो वीरो दुरितपरसेनाभिविजये
विधेया मे भक्तिः पथि भवत एवाप्रतिनिधौ । ६५

टीका—भवतो जिनस्य पथि मार्गे सम्यग्दर्शनज्ञानचारि-
त्रलक्षणोऽप्रतिनिधौ—प्रनिनिधिरहितेऽन्ययोगव्यवच्छेदेन नि-
र्णाति भक्तिपाराधनां विधेयस्त्वं जिन ? मे भगवन्निति स्तो-
त्रफलप्रार्थना परमनिर्वाणफलस्य तम्भूतत्वात् । कुतः स्वपथि
भक्ति विधेयस्त्वमिति चेत्, यतो दुरितपरसेनाभिविजये वी-
रस्त्वं यतश्च महावीरः श्रेयः पदमधिगतत्वात् यतश्च स्तुतः
शक्तया मयेति । कस्मात्त्वं स्तुत इति चेत्, स्तुत्यो यस्मात्

स्वयं स्तुत्यैरपि त्रिदशमुख्यैः सुरेन्द्रैर्मनिमुख्यैश्च गणधरदेवा-
दिभिः प्रणिहितैरेकाग्रपनस्कैरिति हेतुहेतुमञ्चावेन पदघटना
निधेया । नहि दुरितपरसेनाभिविजयो वीरत्वमन्तरेण संभव-
ति, अवीरेषु वीर्यातिशयशून्येषु तदघटनात्, यतोऽयं वीरत्वे-
नानंतवीर्यत्वलक्षणे साध्ये हेतुर्न स्यात् । न चायं कर्मरिपुसे-
नाभिविजयो जिनम्यासिद्धं एव ।

“त्वं शुद्धिशक्तयोरुदयस्य काष्ठां तुलाव्यतीतां जिन ?
शान्तिरूपाम् । अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता महानितीयत्वति-
वक्तुमीशाः” ॥

इत्यनेन तस्य साधितत्वात् । तथा महावीरत्वे सकल-
वीराधिपतित्वलक्षणे साध्ये श्रेयःपदाधिगतस्यापि हेतुत्वमुप-
पन्नमेव तदंतरेण तदनुपत्तेः । न च भगवतः श्रेयःपदाधि-
गतत्वमसिद्धं ब्रह्मपथस्य नेतेत्यनेन तस्य साधनात् । तथाऽ-
न्येषां स्तुत्यैखिदशमुख्यैर्मनिमुख्यैश्च प्रणिहितैरनन्यमनोदृच्छि-
भिः स्तुत्यत्वे साध्ये महीवीरत्वं हेतुरूपव्यत एवान्यस्य तैर-
स्तुत्यस्य महावीरत्वानुपत्तेरितियः स्तुतिगोचरत्वं निनीषुरा-
चार्यो भगवतं वीरमासीत् (?) तेन स्तुतो भगवानेवेति भगवत एव
पथि भक्ति प्रार्थितवान्, तस्याप्रतिनिधित्वाच्चदाराधनाप्राप्तौ
कर्मरिपुसेनाभिविजयस्य तत्कार्यस्य संप्राप्तिसिद्धेश्च श्रेयःप-
दाधिगमोपपत्तेऽर्जिनत्वस्योपमेयस्यावश्यंभावित्वात् । कथं पुन-
रसौ भगवतः पन्थाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकोऽतिनि-
धिः सिद्धं इति चेत् । तदपरस्य ज्ञानमात्रस्य वैराग्यमात्रस्य

वा तदुभयमात्रस्य वा परमात्मोपायस्यासंभवात्, सकलसंसारकारणं हि मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रिलक्षणं तत्कथं ज्ञानपात्राभिवर्तते मिथ्याज्ञानस्यैव ततो निवृत्तेः, न च मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ रागादिदोषादिकं मिथ्याचारित्रं निवर्तते; समुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्यापि रागादिदोषसञ्चावसिद्धेः । प्रकीणमोहासस्वज्ञानाभिवृत्तिरिति चेत्, स एव मोहप्रक्षयः कुतः स्यात् । तत्त्वज्ञानातिशयादेवेति चेत्; कः पुनस्तत्त्वज्ञानातिशयः ? प्रकीणमोहत्वमिति चेत्, परस्पराश्रयः सति मोहप्रक्षये तत्त्वज्ञानातिशयः सति बाऽतिशये मोहप्रक्षय इति । साक्षात्सकलपदार्थपरिच्छेदित्वं तत्त्वज्ञानातिशय इति चेत्; तत्कुतः सिद्धयेत् ? धर्मविशेषादिति चेत्, स एव समाधिविशेषस्तत्त्वज्ञानादन्यो वा ? तत्त्वज्ञानमेव स्थिरीभूतं समाधिरिति चेत्, तस्मागमज्ञानं योगिज्ञानं वा ? यद्यागमज्ञानं दुःखजन्मपृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानां कार्यकारणभावविषयं तदा न्यायदर्शनविदां तदस्तीति धर्मविशेषं जनयेत् । स च योगिज्ञानमिति तद्व एव मुक्तिप्रसंगः । अय योगिज्ञानं समाधिविशेषस्तदेवेतरेतराश्रयः स्यात्-सति योगिज्ञाने स्थिरीभूते समाधिविशेषे धर्मविशेषः, तस्माच्च यथोक्तः समाधिविशेष इति नैकस्यापि प्रसिद्धिः । यदि पुनस्तत्त्वज्ञानादन्य एव समाधिविशेषस्तदा स कोऽन्योऽन्यत्र सम्यक्चारित्रात् ? । सम्यक्चारित्रोपहितादेव तत्त्वज्ञानात्तत्त्वब्रद्धानाविनाभाविनः संसारकारणत्रयस्थ परिक्षयः सिद्धयेत्, न तत्त्वज्ञानादेव केवला-

दतो न तत्सकलसंसारहेतुप्रतिपक्षः, नाऽपि वैराग्यं तत्प्रतिपक्षः
कस्यचिन्मूर्खस्य तपस्त्विनः सत्यपि वैराग्ये मिथ्याज्ञानस्य स-
ज्ञावात् । तत्त्वज्ञानमेव वैराग्यं तस्मिन्सति मिथ्याज्ञानस्य संसा-
रकारणस्य निवृत्तेस्तदेव संसारकारणप्रतिपक्षभूतमिति चेत् ,
किं पुनस्तत्परं तत्त्वज्ञानं । रागादिदोषरहितं तत्त्वज्ञानमिति
चेत् , तर्हि सम्यक्चारित्रं तत्त्वज्ञानसहितं तत्त्वश्रद्धानाविना
भावि संसारकारणप्रतिद्वन्द्वि सिद्धं , न पुनवैराग्यमात्रं , एतेन
तदुभयमात्रस्य संसारकारणप्रतिद्वन्द्वित्वपणस्तं तत्त्वश्रद्धानशू-
न्यस्य तदुभयस्यापि संसारहेतुन्वर्दशनात् । सति श्रद्धाविशेषे
तत्त्वज्ञानपूर्वकं वैराग्यं न पुनस्तत्त्वश्रद्धानशून्यं तस्य वैराग्या
भासत्वादिति चेत् , तर्हि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रव्यमेव संसा-
रकारणस्य मिथ्यादर्शनमिथ्याज्ञानमिथ्याचारित्ररूपस्य त्रया-
त्मकस्य त्रयात्मकेनैव प्रतिद्वन्द्विना निवर्त्यितुं शक्यत्वात् ।
मिथ्याज्ञानस्यैव विपरीतत्वाभिनिवेशविपरीताचरणकरणशक्ति-
युक्तस्यैकस्य संसारकारणस्यवस्थायां तु तत्त्वज्ञानमेव तत्त्व-
श्रद्धानसम्यग्चाचरणशक्तियुक्तं तन्निवर्तकमिति युक्तमुत्पश्या-
मस्तत्त्वज्ञानस्य तत्त्वप्रकाशनशक्तिरूपत्वात् , तत्त्वश्रद्धानशक्तेः
सम्यग्दर्शनत्वात्सम्यग्चाचरणशक्तेः सम्यक्चारित्रत्वात् त्रयात्म-
कत्वानतिक्रमात् , संसारकारणम्य मिथ्याज्ञानस्य विपरीततत्त्व-
प्रकाशनविपरीताभिनिवेशविपरीताचरणशक्तियात्मनस्तथात्मक-
त्वानतिक्रमवत् ।

ततः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मक एव परमात्मतत्त्व-

पंथाः समवतिष्ठते न ज्ञानपात्रादिरिति स एवाप्रतिनिधिः
सिद्धः ।

ततस्तत्रैव भक्तिं प्रार्थयपानः समन्तभद्रस्वामी न प्रेक्षा-
पूर्वकारितां परित्यजतीति प्रतिपत्तव्यम् ।

स्थेयाज्ञातजयध्वजाप्रतिनिधिः प्रोद्भूतभूरिप्रभुः,

प्रध्वस्ताखिलदुर्नियद्विषदिभः सञ्चीतिसामर्थ्यतः ।

सन्मार्गस्त्रिविधिः कुमार्गपथनोऽहन्तीरनाथः श्रिये

शश्वत्संस्तुतिगोचरोऽनघधियां श्रीसन्यवाक्याधियः ॥१॥
श्रीमद्वीरजिनेश्वरामलगुणस्तोत्रं परांक्षक्षणैः

साक्षात्स्वापिसमन्तभद्रगुरुभिस्तत्त्वं समीद्याखिलम् ।

प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयीभः स्याद्वद्मार्गानुगै-

विद्यानंदवुपैरलंकृतमिदं श्रीसन्यवाक्याधियैः ॥२॥

इति ‘श्रीमद्विद्यानन्दाचार्यकृतो’ युक्त्यनुशासनालङ्कारः समाप्तः ।

३८२
समाप्तोऽयं ब्रंथः

माणिकचन्द दि. जैन ग्रन्थमालामें
प्रकाशित पुस्तकोंकी सूची ।

- | | |
|---------------------------|--------|
| १ लघीयव्यादिसंग्रह | =) |
| २ सागार धर्मामृत | ≡) |
| ३ विक्रान्त कौरवीय नाटक | =) |
| ४ पार्श्वनाथ चरित्र |) |
| ५ मैथिलीकल्याण नाटक |) |
| ६ आराधनासार |) |
| ७ जिनदत्त चरित्र |) |
| ८ प्रव्युम्नचरित |) |
| ९ चारित्रसार | =) |
| १० प्रमाणनिर्णय | -) |
| ११ आचारसार | ≈) |
| १२ त्रैलोक्यसार | १) |
| १३ तत्त्वानुशासनादिसंग्रह | =) |
| १४ अनगार धर्मामृत | ३) |
| १५ युक्त्यानुशासन | |

मिलनेका पता—

जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर, कार्यालय,

हीराबाग, पो० गिरगांव—बम्बई ।